गुरू

लक्ष्मीनारायण लाल

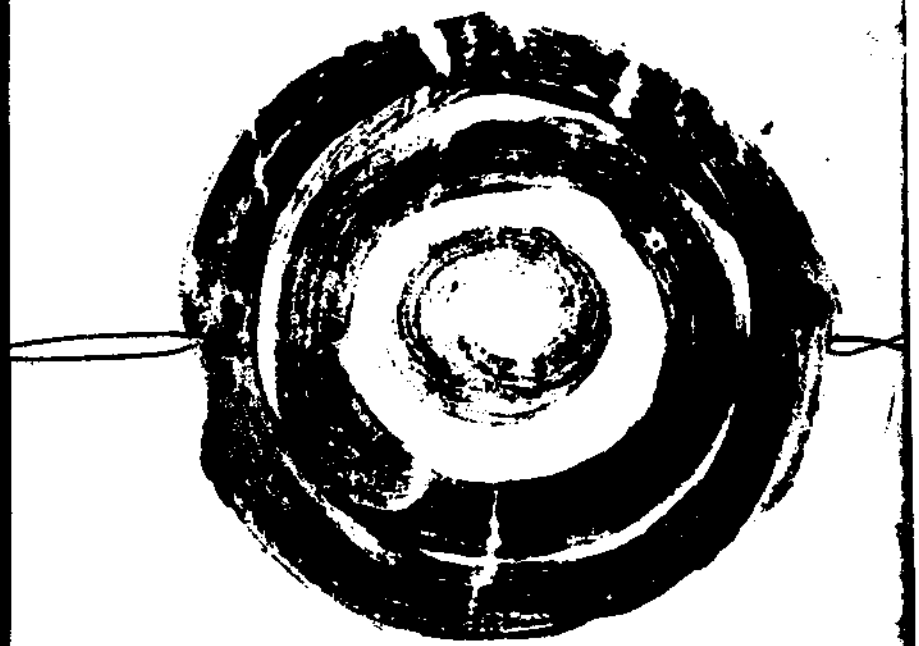

गुरु

लक्ष्मीनारायण लाल

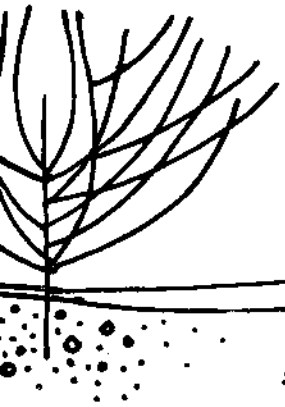

शिप्रा प्रकाशन, आगरा

गुरुतुल्य मित्र
श्री सुमंगल प्रकाश को

प्रकाशक
शिप्रा प्रकाशन
हास्पिटल रोड, आगरा

मुद्रक
मेहरा आफसेट प्रेस
हास्पिटल रोड, आगरा

संस्करण
१९७५

मूल्य
रु. ६·०० पुस्तकालय संस्करण
रु. ४·०० छात्र संस्करण

स्वगत

तीन चाणक्य थे। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' का चाणक्य। डी. एल. राय के चन्द्रगुप्त का चाणक्य और जयशंकर प्रसाद का चाणक्य। मुद्राराक्षस में वह कौटिल्य है। डी. एल. राय के हाथों वह तेजस्वी, क्रोधी ब्राह्मण है और प्रसाद की रचना में वह अति स्वाभिमानी और अति भावुक है। कहीं वह प्रतिहिंसक है, कहीं असफल प्रेमी, कहीं व्यवहार-कुशल, नीति-कुशल, कहीं निर्मम, त्यागी ब्राह्मण और कहीं विद्वान अध्यापक है चन्द्रगुप्त जैसे महापुरुष का। संस्कृत में चाणक्य के व्यक्तित्व के बारे में एक यह चित्र खींचा गया है—"जिसमें वज्र और अग्नि के तुल्य तेज है, जिसके वज्र-प्रहार से श्रीयुक्त सुपर्दा नन्द-वंश रूपी पर्वत मूल सहित नष्ट हो गया, जो शक्ति में कार्तिकेय के समान है और जिसने अपनी मंत्र-शक्ति से एकाकी ही चन्द्रगुप्त को साम्राज्य प्रदान किया।"

मंत्र-शक्ति से निश्चय ही ज्ञान-शक्ति का ही अर्थ अभिप्रेत है। वस्तुत मंत्र-शक्ति, ज्ञान-शक्ति अथवा आयोजन क्षमता की दृष्टि से चाणक्य का चन्द्रगुप्त के लिए उतना ही महत्व था जितना कि सिकंदर के लिए अरस्तू का था। निर्भीक मेधा, स्वच्छ विवेक और धैर्य आदि उसके सद्गुण थे। पर उसके चरित्र में इतने विस्फोटक तत्त्व और इतने विरोधाभास हैं कि उसका वही यथार्थ मनुष्य रूप मुझे सदा आकर्षित करता रहा।

मनुष्य चाणक्य के बचपन में, किशोरावस्था में जो अभाव, अपमान और भावनात्मक चोटें मिलीं, वही उसके भावी मनुष्य और उसके चरित्र के प्रेरक तत्त्व हैं। वही उसके जीवन के वे विस्फोटक तत्त्व हैं जिन पर उसका भावी चरित्र निर्मित हुआ। साथ ही दूसरी ओर चन्द्रगुप्त के बचपन और उसकी किशोरावस्था में उसके स्तर से जो अपमान, प्रतिहिंसाएं मिलीं, संयोग से वे कम अर्थवान नहीं। यह कैसा मानवीय और ऐतिहासिक संयोग था कि वैसे चाणक्य से वैसे चन्द्रगुप्त की भेंट गुरु और शिष्य के रूप में हुई!

मेरे लिये चाणक्य मूलतः एक यथार्थ पुरुष है। वह गुरु है चन्द्रगुप्त का। और गौण रूप से मेरे लिये इतिहास का पुरुष है।

चाणक्य का भी एक गुरु है, जिसकी रचना मैंने पूर्णतः अपने मानस, अपनी प्रज्ञा से की। चाणक्य का वह गुरु उस प्राचीन मनीषा का दिव्य पुरुष है जो वीतराग है, स्थितप्रज्ञ है और फिर भी यथार्थ मनुष्य है। उसी ने किशोर, ब्रह्मचारी, पर भावनात्मक रूप से घायल, टूटे हुए चाणक्य को आर-पार देखा है। उसी गुरु से यह दृष्टि मिली कि 'देखो' अपने को देखो। देखता कौन है? जो कर्ता है। कर्ता कौन है? जो भोक्ता है। भोग क्या है? जो कर्ता भोगता है अपने कर्मों के माध्यम से। पर वह कर्ता बनता कब है? जब वह सचेतन हो, पूर्ण निष्ठा से अपना कर्म भोग करता है। अर्थात् जब कर्ता पूर्ण पुरुष होता है। अगर वह पूर्ण पुरुष नहीं है—अर्थात् उसमें जब अपने ही कर्मों, भोगों और दायित्वों के प्रति पूर्ण निष्ठा नहीं है तब उसका कर्म, भोग नहीं बन सकता। तब वह केवल उपभोग होगा। और उपभोग सदा बंधन होगा। मुक्तिदायी केवल भोग है—पूर्ण निष्ठा से किया हुआ कर्म ही कर्ता को मुक्त करता है। यही है मेरा गुरु। यह गुरु ही मेरी मनीषा है जो वेद-उपनिषद से चलकर आगे कहीं उपभोग, उपज्ञान, उपकर्मकांड के घनघोर जंगल में लुप्त हो गया।

चाणक्य के चरित्र से, मैंने उसी गुरु को पाने और दिखाने का विनम्र प्रयास किया है। यह गुरु मेरे लिये गहन व्यापक अनुभूति है। उसी अनुभूति को नाट्यानुभूति के रूप में दर्शन कराने का मेरा अपना यह कार्य है।

व्यक्ति क्या है? मनुष्य जब व्यक्ति इकाई होता है, तब वह क्या है? पश्चिम के व्यक्ति से भारत का यह व्यक्ति सर्वथा अलग है। मौलिक और अभूतपूर्व है।

व्यक्ति एक अभिव्यक्ति है। किसकी, किस चीज की अभिव्यक्ति है यह? भूमा की, ईश्वर की, उस विराट की ही तो अभिव्यक्ति है।

पर मनुष्य अपने जीवन-इतिहास में, परिवेश और समाज में जान

कहां पाता है कि वह व्यक्ति किसकी अभिव्यक्ति है? वह अपने आपसे प्रश्न कहां करता है कि वह किसकी अभिव्यक्ति है? मनुष्य से व्यक्ति हो जाना यही तो मनुष्य की चरम इच्छा है आधुनिक समाज में। और यह चेतना पश्चिम की उधार ली हुई, ओढ़ी हुई है। मेरा गुरु इसी अंधकार, अज्ञान के विरुद्ध प्रकाश है। वह सत्य के अर्थ को अपने जीवन से प्रकाशित करता है।

चाणक्य पूरी निष्ठा से अपने कर्मों के भोग करता है। भोग माने देखना। यह देखना ही गुरुमंत्र है। गुरु प्रकाश है। प्रज्ञा और चेतना है।

पूरे नाटक में चाणक्य कर्ता है, भोक्ता है, द्रष्टा है और अन्त में वह मुक्त है। सब कुछ छोड़कर सहज ही चल देता है। बल्कि उसे छोड़ना नहीं पड़ता, सब सहज ही उससे छूट जाता है, उसे अन्त में कुछ बनना नहीं है, वह हो जाता है। वह वही हो जाता है जो उसमें अभिव्यक्त था। अभिव्यक्त है हर व्यक्ति में। व्यक्ति, व्यक्ति तब तक है ही नहीं, जब तक उसे यह दीखे नहीं, अनुभूत न हो कि उसमें किसकी क्या अभिव्यक्ति है?

पर यह देखना ही बड़ा कठिन कार्य है। यहीं से, इसी कठिन कार्य से यह 'गुरु' नाटक मैंने प्रारम्भ किया है। तक्षशिला का आचार्य विद्वान चाणक्य अपने समस्त शिष्यों को आज्ञा देकर बाहर भेजता है कि जाओ बाहर जाकर देखो। बाहर माने, अपना परिवेश, अपना देश और समाज।

आधुनिक शिक्षा की करुणा क्या है? इसकी सीमा और दुर्भाग्य क्या है? छात्र अपनी शिक्षा की परिधि में अपने बाहर से कट जाता है। वह टूट जाता है अपने परिवेश, देश और समाज के यथार्थ से। और इससे भी ज्यादा गम्भीर बात यह कि वह बाहर जाकर बाहर को नहीं देख पाता, वह अपने आपको ही बाहर पर आरोपित कर स्वयं को ही देखता है। जाकी रही भावना जैसी, वस्तु-मूरत देखी तिन तैसी। प्रभु मूरत ही हमारे यहां वस्तु मूरत है। तो हम वस्तु को वस्तु के रूप में, उसके यथार्थ रूप में नहीं देख पाते, उस पर अपना रंग पोतकर, चढ़ाकर देखते हैं।

फिर यह देखना कहां, कैसा?

सो चाणक्य के शिष्य बाहर देखने के नाम पर अपने ही मन को देखकर लौटे हैं।

चन्द्रगुप्त अपनी उस यात्रा में अपने आचार्य चाणक्य के गुरु को पकड़ लाता है। वह गुरु ही दिखाता है कि देखना क्या है। पहले स्वयं को देखना, पकड़ लेना, फिर अपने आपसे बाहर निकलकर बाहर को देखना।

मेरा यह समूचा नाटक चाणक्य मनुष्य का अपने आपसे बाहर निकलकर देखने का कार्य है। देखना ही 'गुरु' नाटक है।

यहाँ उस बाहर में उसके सारे शिष्य हैं, पूरा भारत देश है, उसकी राजनीति, धर्म, नीति, कुटिलता, निर्ममता और प्रेम-घृणा, संशय, राग-विराग, हिंसा, छल-कपट सब कुछ है। सब कुछ देखना, अर्थात् सब कुछ का कर्मयोग, यहीं चाणक्य 'गुरु' हो जाता है।

और इस अभिज्ञान में चाणक्य के समस्त शिष्य, उसके सारे शत्रु-वैरी, प्रेमी-प्रेमिका सब उसके गुरु बन जाते हैं।

वास्तविक गुरु अपने शिष्यों से ही ज्ञान पाता है। मुक्ति बाहर है पर उसकी जड़ अपने ही भीतर है। वही देखना, भोगना और मुक्त हो जाना 'गुरु' है।

गुरु में सब मात्रायें गुरु हैं, यही गुरु है। प्रणाम·····। गुरु वही है, जो मुक्त हो और मुक्ति दे।

नई दिल्ली

—लक्ष्मीनारायण लाल

चरित्र

पुरुष चरित्र : शीलबंधु
चाणक्य
चंद्रगुप्त
राक्षस
सिंहरण
माहालि
बंधुल
मलयकेतु
प्रियंवदक
सारंग
भागुरायण

स्त्री चरित्र : सिंधुतरी
कार्नेलिया
सुवासिनी

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान : तक्षशिला

समय : संध्या

[गुरुकुल के खुले मैदान को पारकर प्रियंवदक आता है।]

प्रियंवदक : प्रणाम ! नहीं नहीं, इस तरह आशीर्वाद देने की कोई आवश्यकता नहीं। आशीर्वाद तो गुरु का है। लगता है सबसे पहले मैं ही गुरुकुल द्वार लौटा हूं। पूरे तीन महीने, तेरह दिन, तीस क्षण, तैंतीस पल, तीन विपल बीते हैं, हमें यहां से गये हुए। आज अब तक सबको लौट आना है। सो मैं प्रथम

हूं। पढ़ने में सबसे पीछे हूं तो क्या ! आचार्य चाणक्य प्रसन्न रहें, बस मुझे तो यही आशीष दीजिए। (कंधे से अपना झोला उतारता है) शतपथ ऋषि के विचार से सुरक्षित विश्राम का स्थान घर ही है—गृहा वै प्रतिष्ठा। देखिए मेरी स्मरण शक्ति इतनी खराब नहीं है। हां, यहां ऐसा सोचिए कि साधारण अर्थ में घर मात्र सुरक्षित विश्राम का स्थान तो है ही किन्तु विशेषकर अपना घर तो सुरक्षित विश्राम का सर्वोत्तम केन्द्र है। अपने घर में भूखों मरकर भी रहने की भावना में दो बातों की ओर खिंचाव है—यायावर अवस्था से सर्वथा मुक्त हो जाना। मतलब एक जगह बस जाना। और परमुखापेक्षी न रहना। किसी के आश्रित न रहना, कम से कम निवास के मामले में।

[दूर से सारंग आता है।]

सारंग : अब देखिए। इनको नमस्कार करना पड़ेगा। यह राजकुमार हैं। मैं केवल एक स्नातक हूं। प्रियंवदक को सारंगराव का सादर सविनय प्रणाम स्वीकार हो।

प्रियंवदक : बाप रे चलते-चलते इतना थक गया हूं। (बैठता है) कहीं एक भी वैसा घर नहीं मिला जहां से कोई कहने वाला हो···

सारंग : (बीच ही में अभिनय करता हुआ) आइए, आइए, डरिए मत। गायें, बकरी और नाना प्रकार के रसयुक्त अन्न हमारे घरों में भरे हुए हैं···।

प्रियंवदक : व्यंग करता है।

सारंग : ये घर ऐसे लोगों के हैं···

प्रियंवदक : चुप रहता है या नहीं।

[दौड़ा लेता है। सारंगराव चिढ़ाता हुआ]

सारंग : हम सत्याश्रमी हैं। भाग्यवान हैं। श्री सम्पन्न हैं··· प्रसन्न हैं···भूख-प्यास की यातना से सर्वथा मुक्त हैं। पधारिए और भय मत कीजिए···।

[दौड़ने और पकड़ने में प्रियंवदक के दायें पैर में अचानक दर्द उठ जाता है। सारंगराव सम्हालता है।]

सारंग : मैंने सादर प्रणाम किया। सादर सविनय। आपने ध्यान तक न दिया···।

[दायीं ओर से बंधुल आता है।]

सारंग : अब मैं किसी को प्रणाम नहीं करता।

बंधुल : आचार्य कहां हैं ?

सारंग : भाई मेरे, थोड़ा दम तो मार लो।

बंधुल : मुझे अपने अनुभव बताने हैं।

सारंग : हम सब को वही करना है।

बंधुल : मेरा अनुभव तीव्र है।

प्रियंवदक : थोड़ा शीतल जल पी लीजिए !

बंधुल : सारे लोग लौट आये ?

सारंग : भला हम लोग इतने प्रश्न क्यों करते रहते हैं ?

प्रियंवदक : प्रश्न करो । पूछो ।

बंधुल : मेरे अनुभव गम्भीर हैं ।

सारंग : लगता है कहीं प्रेम हो गया ।

प्रियंवदक : यात्रा में पेट खराब हो गया दीखता है ।

बंधुल : लोग दुखी हैं । गरीब हैं । डरे हुए हैं । मानो इस भूमि पर कोई विदेशी आक्रमण होने वाला है ।

[बायीं ओर से लंगड़ाते हुए माहालि आता है ।]

प्रियंवदक : (उठता है) मेरी तो नस चढ़ गयी थी । लिच्छिवि राजकुमार को··· ।

माहालि : पैर कट गया ।

बंधुल : कैसे ?

माहालि : वीणा के तार से !

[प्रियंवदक और सारंग हँसते हैं ।]

माहालि : इसमें हँसने की क्या बात है ? आचार्य चाणक्य को लगा कि तक्षशिला के स्नातक आत्मकेन्द्रित हो गये हैं··· ।

सारंग : कूप-मंडूक ।

प्रियंवदक : मच्छिका स्थाने मच्छिका··· ।

बंधुल : अपने परिवेश से कट गये हैं ।

माहालि : उसी से जुड़ने गये ।

सारंग : और पैर कटा लिया···

प्रियंवदक : वीणा के तारों से ।

[हँसी]

बंधुल : सचमुच हमें अपने आसपास का तनिक भी पता न था । ब्राह्मण बौद्ध से लड़ते हैं, बौद्ध जैन से, देवता राक्षस से, आर्य और अनार्य···

[दौड़ता हुआ सिंहरण आता है ।]

सिंहरण : कृपाण दो । दो मेरी कृपाण ।

बंधुल : सिंहरण !

[सिंहरण तेजी से चला जाता है ।]

माहालि : मालव कुमार सिंहरण का जैसे कोई पीछा कर रहा हो ।

बंधुल : कौन ? कौन खड़ा है उस अंधेरे में ?

माहालि : किसी की परछाईं है ।

बंधुल : कोई है ।

[कृपाण लिये सिंहरण आता है ।]

सिंहरण : कायर भागना नहीं !

[पृष्ठभूमि से हँसी सुनायी पड़ती है ।]

सिंहरण : अब भागते क्यों हो ? आओ । कृपाण देखना चाहते थे ! आओ देखो भारतीय अस्त्र-शस्त्र !

[दूर से फिर वही हँसी सुनायी पड़ती है ।]

सिंहरण : आज अनुभव हुआ—हँसी एक आक्रमण है ।

बंधुल : कौन थे वे ?

सिंहरण : यवन । कितने गर्व से अपने महान विजेता सिकन्दर

का नाम ले रहे थे। पंचनद नरेश उन्हें अपने साथ लेकर घूम रहा था। पहली बार उन्हें सिंधु-तट पर देखा। दूसरी बार वितस्ता के अंचल में घोड़े दौड़ाते हुए। महर्षि ने उनका अपमान सहा। तब से मैं जहां-जहां गया, उन्हें अपने चारों ओर देखा।

[शीलबंधु को बांधे चंद्रगुप्त आता है।]

बंधुल : चन्द्रगुप्त ! यह क्या ?

माहालि : यह कौन है ?

सारंग : इसी का नाम परिवेश है ?

प्रियंवदक : यही ढूंढ़ने हम गये थे ?

सारंग : ढूंढ़ते-ढूंढ़ते अगर किसी को मिला भी तो चंद्रगुप्त को ही मिला।

चंद्रगुप्त : मैं सिंधु-घाटियों में घूम रहा था। यह मुझे एक शिलाखंड पर मौन बैठा हुआ मिला। शांत स्थिर। मुझे जिज्ञासा हुई यह क्या खाता है ! क्या इसे प्यास भी नहीं लगती ! कभी तो थककर सोता होगा ! अपनी जिज्ञासा लिये तीन दिन तीन रात इसे देखता रहा। फिर मेरे लिये असह्य हो गया। उसी क्षण मैंने देखा फल और जल लिये यह मेरे सामने खड़ा है। 'लो मैं तुम्हारा मित्र हूं। भोगो। जियो। देखो।' क्या मैं अंधा हूं ? निर्णय देने का मुझे कोई अधिकार नहीं।

यह व्यक्ति भावनाशून्य है। इसे क्रोध नहीं आता। यह कहता है—बुद्धि भ्रम है। भय ही मन है। भय बुद्धि की देन है। और बुद्धि अपने आप में कुछ नहीं है। बुद्धि परिवेश की देन है।

माहालि : महाराज प्रेम भावना तो सत्य है न !

[हँसी]

सिंहरण : अहंकार पर जो इतनी गहरी चोट लगती है, क्या वह कम सच है ?

बंधुल : ये ऋषि-मुनि जीवन की सच्चाइयों से भागे हुए लोग हैं। हमें भी भागने की शिक्षा देते हैं। हम अपने चारों ओर के यथार्थ से जुड़ने गये थे। हम उसे देखने और अनुभव करने गये थे। हमने जो देखा है···।

सिंहरण : आर्यावर्त भीतर और बाहर दोनों ओर से टूट रहा है। यवनों का आक्रमण होने को है। पंचनद नरेश का निमंत्रण है।

चंद्रगुप्त : मगध पतन के कगार पर है। लिच्छवि गणराज्य एक-दूसरे से ईर्ष्या की आग में जलते हैं। मल्ल श्रेष्ठ हैं या लिच्छवि, इस प्रश्न के उत्तर हिंसा-प्रतिहिंसा में ढूंढ़े जा रहे हैं। शक, यवन, किरात, कांबोज, पारस, वाह्लीक कोई मित्र नहीं है आर्यावर्त का।

प्रियंवदक : मैं सब समझता था—आचार्य चाणक्य की चाल

कोई ऐसी-वैसी नहीं होती। सबको यहां से बाहर भेजकर फंसा दिया न! गुरु की चाल मैं समझता था—केवल मैं। सो भइया रे मैंने तो सीधे अपने घर जाकर शुद्ध विश्राम किया।

सारंग : तो भला ऐसे महापुरुष को इस तरह बांधकर यहां ले आने की क्या जरूरत पड़ गयी? (पास जाकर) आइए महाराज, छिमा कीजिए, बालक बानर एक सुभाऊ जब देखो तब खाऊ खाऊ! (बंधन-मुक्त कर सादर बैठाता है।) हे प्यारे शिष्य प्रियंवदक!

प्रियंवदक : हां, प्यारे शिष्य सारंगराव!

सारंग : शास्त्रानुसार आतिथ्य कैसे करना चाहिए?

प्रियंवदक : हाथ जोड़म प्रणामम करो। साष्टांग करोति। मंद-मंद मुस्कान सहितम···

[सारंगराव अभिनय करता है।]

चंद्रगुप्त : सारंगराव!

[सन्नाटा छा जाता है।]

सिंहरण : आचार्य चाणक्य कहां हैं?

[चाणक्य का प्रवेश होता है। सारे शिष्य उन्हें प्रणाम करने बढ़ते हैं। वह रोक देते हैं।]

चाणक्य : धैर्यपूर्वक अपनी-अपनी जगह पर खड़े रहो।

[चाणक्य उस महात्मा का चरण-रज अपने मस्तक पर लेता है।]

चाणक्य : यह महात्मा गुरु हैं मेरे!

[सारे शिष्य साष्टांग प्रणाम करते हैं।]

प्रियंवदक : हम क्षमाप्रार्थी हैं।

सारंग : हम लज्जित हैं।

सिंहरण : हमें नहीं पता···।

बंधुल : आश्चर्य!

माहालि : हर सुन्दर आश्चर्य है।

चंद्रगुप्त : मैं जैसे बंध गया इनसे। इन्होंने पूछा—तुम लोग बाहर देखने निकले हो? हां, महाराज। देख सकते हो? हां, क्यों नहीं। मैं सब कुछ इतना सब देखता आ रहा हूं। यह बोले—यह सब तुम्हारी आंखों ने देखा, तुमने कहां देखा? मैंने पूछा—आप कौन हैं? क्या हैं? कोई उत्तर नहीं। अपने संग यहां गुरुकुल में ले आने का आग्रह करने लगा। यह बोले—जिसे प्यास लगेगी वह जल ढूंढ़ लेगा। जिसे जो खोज होगी, उसे वही मिलेगा।

चाणक्य : और तुम इन्हें··· यहां बांधकर ले आये। जानते हो यह कौन हैं?

शीलबंधु : पूछो, यह स्वयं जानते हैं कौन हैं?

[सन्नाटा छा गया।]

चाणक्य : महर्षि शीलबंधु, इस तक्षशिला गुरुकुल के प्रथम कुलपति। मेरे आचार्य। मेरे गुरुदेव···।

शीलबंधु : देखो। मैं इसका आचार्य। इसका गुरु, हां, मैं इसका। यह मेरा नहीं। मैं इसका। क्या देखा? क्या देख रहे हो? कौन देख रहा है?

[सन्नाटा]

सिंहरण : आचार्य की आज्ञा से हम अपने आसपास का यथार्थ देखने गये थे।

शीलबंधु : जब कोई आज्ञा करे तब हम देखें? तब वही आज्ञा देखना होगा।

बंधुल : आचार्य चाणक्य, हमारे अनुभव सुनें।

चाणक्य : वहां खड़े-खड़े सब सुन लिया है।

माहालि : हमने जो कुछ देखा है, वह आश्चर्यजनक है।

चाणक्य : तो देखा नहीं आश्चर्य किया!

सिंहरण : बाहर और भीतर से यह आर्यावर्त···।

चाणक्य : सारंग!

सारंग : आज्ञा आचार्य!

[शीलबंधु उठकर जाने लगते हैं।]

चाणक्य : (साश्चर्य) गुरु मेरी भावना को कैसे जान जाते हैं? मैंने इच्छा की नहीं, केवल उसे सोचा। सारंग और प्रियंवदक को उनकी सेवा में भेजूं··· वह तत्काल स्वयं चल पड़े।

[शीलबंधु के पीछे-पीछे सारंग और प्रियंवदक जाते हैं।]

चाणक्य : उनका चलना, उठना, बैठना, देखना, सब एक

सम्पूर्ण क्रिया है। कार्य है प्रत्यक्ष और हमारा जगत प्रतिक्रिया का है।

[सारंग और प्रियंवदक आते हैं।]

सारंग : कहा--मुझे कुछ नहीं चाहिए।

प्रियंवदक : बस, हमें देखते रहे।

[विराम]

चाणक्य : बैठो।

[सब बैठते हैं।]

चाणक्य : ब्रह्मचर्य, नीति, अर्थशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, रसायन पढ़कर मैं गंगा-तट पर तपस्या कर रहा था। मेरी अशांति को देखकर इसी अकाल पुरुष ने कहा--मन की तपस्या नहीं होती। तपस्या बोध की है। ज्ञान की तपस्या से मन को बाधामुक्त कर सकते हैं। पूर्व संस्कार से ही मन बनता है और यही हमारी धारणाओं को एकांगी बनाता है। यही हमें देखने नहीं देता। यही हमें होने-करने नहीं देता···। चाणक्य तुम चाणक्य नहीं, अपमानित, दंशित, घायल, भूखे-प्यासे शिशु हो तुम। जो निकट होने से वृहत् और दूर होने से छोटा है, जो बाह्य होने से प्रत्यक्ष और आंतरिक होने से प्रच्छन्न है, जो विच्छिन्न रूप से निरर्थक और संयुक्त रूप से सार्थक है, उसकी यथार्थता में उसे देखना--यही तपस्या है। और

वह तपस्या शिक्षा है। शिक्षा देने की साधना है शिष्यों से शिक्षा पाना। (रुककर) मुझे इस गुरुकुल में लाकर मेरे परम गुरु शीलबंधु यहां से चले गये। अच्छा किया तुम उन्हें यहां ले आये। (रुककर) बोध की तपस्या में प्रवृत्तियां बाधा डालती हैं। जब मन ही जीवन है, तो प्रवृत्तियां असंयत होंगी। बोध विकृत होगा। फिर भी कामना को हम श्रेय क्यों देते हैं? क्यों? क्यों?

दूसरा दृश्य

स्थान : वही

समय : आधी रात

शीलबंधु : मैं अपना उपाध्याय था। अब तुम मेरे उपाध्याय हो। मैं तुम्हारा हूं। सारे शिष्यों के तुम उपाध्याय बनो ताकि वे स्वयं अपने उपाध्याय बनें।

[सारे शिष्य दूर खड़े देख रहे हैं।]

शीलबंधु : अपने से अभय हो!

चाणक्य : अपने को देखा नहीं जाता।

शीलबंधु : डर लगता है? देखो। देखो। और गहरे जाओ। पैर बढ़ाओ। मैं तुम्हारे साथ हूं। देखो वह कौन है? देखो···।

[जैसे चाणक्य बालक हो गया है। उसके सामने उसके पिता लपलपाती हुई बेंत लिये खड़े हैं। बालक डर से कांप रहा है।]

चाणक्य : नहीं, नहीं। मुझे मत मारो पिताजी। पढ़ूंगा, पढ़ूंगा। समस्त अष्टाध्यायी कंठस्थ करूंगा। पाणिनी को अब नहीं भूलूंगा। आह! आह! आह! ब्रह्मसूत्र नहीं पढ़ा जाता। आह!

[चाणक्य पर मानों कितनी चोटें बरस रही हैं। वह दर्द से छटपटा रहा है। शीलबंधु मां की तरह उसे सम्हालते हैं। उसके आंसू पोंछते हैं।]

चाणक्य : पिता ने मेरे साथ ऐसा क्यों किया ? इतनी कच्ची आयु में पाणिनी··· ब्रह्मसूत्र (रो पड़ता है।) ज्योतिष···

शीलबंधु : रोना वन्द मत करो। खूब रो लो। देखो-देखो अपने उस निर्दोष बालक को। बहुत चोट लगी है न ! च···चा···चा ऐसे विद्वान ज्ञानी पिता को ऐसा घोर अन्याय नहीं करना चाहिए ! हाय कितना प्यारा वच्चा है। देख रहे हो न ? एकटक देखो···। हां, अब अपने पिता को देखो। देखो···।

चाणक्य : नहीं, नहीं ! मैं कुटिल नहीं। मैं कुरूप नहीं हूं ! क्या कहा ? मैं निर्धन, गरीब, अनार्य पिता का पुत्र हूं ? एक-एक की पसलियां तोड़ दूंगा। आंतें निकाल लूंगा।

[क्रोध से चलने लगता है।]

शीलबंधु : तुम्हारे और पिता के बीच में कौन लोग आ गये ? बोलो। देखो। पहचानो।

चाणक्य : प्राणांत कर दूंगा।

[शीलबंधु को गले से दबोचकर पटक देता है। सारे शिष्य दौड़े आते हैं बचाने के लिए। पर रुक जाते हैं। शीलबंधु चाणक्य से लड़ रहे हैं।]

चाणक्य : (चीखता है) मारो ! मारो ! मारो !

शीलबंधु : भाग गये ? देखो, देखो। वे भाग रहे हैं।

चाणक्य : कायर।

[विराम]

शीलबंधु : यह मेरी इच्छा है कि दूसरा मेरे साथ ऐसा न करे। पिता हों या साथी। मैं मैं हूं। वे, वह हैं। वह तुम हो। यह मेरी इच्छा है, कल्पना है, आशा है कि तुम मेरे साथ ऐसा व्यवहार मत करो। पर तुम तुम हो। तुम्हारी भी तो अपनी इच्छा, कल्पना और आशा है। (चाणक्य को स्नेह से थाम) अब तक केवल अपने को ही देखा। अब पिता को देखो। देखो। क्या देखा ?

चाणक्य : महापद्मनंद के राज्य में पिता निर्धन हैं। दरिद्रता की आग में जल रहे हैं। उनकी इच्छा है कि उनका पुत्र शीघ्रातिशीघ्र पंडित हो। शक्तिवान बने। संपन्न हो ! (रुककर) पिता को उनके पिता ने इसी तरह मारा होगा। हर चोट प्रतिक्रिया है। हर प्रतिक्रिया दंड है।

[सारे शिष्य एक स्वर में]

सब : हर चोट प्रतिक्रिया है
हर प्रतिक्रिया दंड है।
जागे मेरी रात जलती हुई रेती पर।
कांटों भरा मन और नंगे पांव सूली पर॥

सूर्य का बिरवा खड़ा किसी ने किरणें तोड़ लीं
माटी ने आह भरी ताप कितना प्रचंड है
हर चोट प्रतिक्रिया है
हर प्रतिक्रिया दंड है।

[चाणक्य तेजी से भागता है। शीलबंधु पीछा करते हैं।]

शीलबंधु : और तेज। पूरे वेग से। दौड़ो। पैरों को रोको नहीं।···क्यों? क्या देखने लगे? यह क्या है?

चाणक्य : कुश है। मेरे पैरों में गड़ गया। अपशकुन हो गया। समूल नाश करूंगा। करूंगा!

[खोदने लगता है।]

चाणक्य : समूल नाश करो। जड़ से खोद फेंककर मट्ठा भरो। चलो। खोदो। नहीं तो एक-एक को श्राप दे दूंगा।

[चाणक्य के साथ सभी कुश खोदने का अभिनय करते हैं।]

शीलबंधु : क्या? क्या है? क्या देखने लगे? बोलो। क्या देख रहे हो?

चाणक्य : सुनो··· सुनो शकहार! मेरा नाम चाणक्य ही नहीं, विष्णुगुप्त भी है। विष्णुगुप्त विद्वान है। मैं हूं विष्णुगुप्त। ब्रह्मचर्य, नीति, वैद्यक, ज्योतिष, रसायन में स्नातक तुम्हारी बेटी सुवासिनी से विवाह की इच्छा से नगर की ओर जा रहा था।

(सहसा रुककर) क्या कहा? मैं असुन्दर काला ब्राह्मण हूं? सुनो···सुनो महापद्मनंद की श्राद्धशाला में बैठे हुए ब्राह्मणो! सुनो महापद्मनंद! किसी ब्राह्मण को अब तक देखा नहीं। मेरा इतना घोर अपमान! देख ले नंद तेरी श्राद्धशाला में सबके सामने अपनी यह शिखा खोल रहा हूं। यह शिखा अब उस दिन बंधेगी जिस दिन तेरा सर्वनाश करूंगा।

शीलबंधु : कल्याण हो! सुनो। बोध की तपस्या में यही आहत मन, क्षुब्ध संस्कार और प्रवृत्तियां बाधा डालती हैं। जब प्रवृत्तियां असंयत हों तो चित्त का संतुलन नहीं रहता और बोध विकृत हो जाता है। कामना की वस्तु को ही हम श्रेय समझने लगते हैं—इसलिए नहीं कि वह सचमुच श्रेय है। लेकिन इसलिए कि उसके प्रति हमारा लोभ है। लोभ क्रिया नहीं, प्रतिक्रिया है।

चाणक्य : क्रिया क्या है?

शीलबंधु : तुम क्या हो?

चाणक्य : जो अभी आपके सामने प्रकट हुआ।

शीलबंधु : वह प्रतिक्रिया थी।

चाणक्य : पर वही हूं मैं।

शीलबंधु : उसी मैं को जियो, कर्त्ता बनकर। और देखो मैं क्या है? क्यों है? और महाकर्त्ता हो जाओ।

चाणक्य : महाकर्त्ता आप हैं। आप ही मुझे इस गुरुकुल में ले आये और विद्या का गुरु-मंत्र देकर चले गये।

शीलबंधु : तुमने देखा तुम्हारा मैं क्या है। अब देखो तुम्हारे इन शिष्यों के मैं क्या हैं? देखो! देखो। अपने परमप्रिय शिष्य चंद्रगुप्त के मैं को देखो। देखो। सावधान, अपने मैं के द्वारा इसे मत देखना। चंद्रगुप्त चंद्रगुप्त है। यह है एक अलग वस्तु। विच्छिन्न रूप से निरर्थक और संयुक्त रूप से सार्थक। इसकी यथार्थता सुरक्षित रखते हुए इसे देखना—यही हमारी शिक्षा का उद्देश्य होगा।

[चले जाते हैं।]

चाणक्य : हे ईश्वर आज मैंने क्या देखा!

चंद्रगुप्त : हे ईश्वर आज मैंने क्या देखा!

चाणक्य : मुझे देखा! चलो अब मैं तुम्हें देखना चाहता हूं।

चंद्रगुप्त : मैं आपके सामने हूं।

चाणक्य : जो प्रत्यक्ष है उसके मूल में क्या है? जो भीतर अंधगह्वर में छिपा है, वही है यथार्थ। वही है तुम्हारा मूल। चलो प्रकट हो। मैं देखूंगा। मुझे मेरे गुरु ने देखा। तुम्हें अब तुम्हारा गुरु देखेगा। यही होगी तुम्हारी गुरु-दक्षिणा। चलो। निर्भय, निःसंकोच प्रकट हो। तुमने सारे शास्त्र पढ़े। अब मैं तुम्हें पढ़ना चाहूंगा। तुम सब बाहर

गये। परिवेश अभिज्ञान के लिए। पर देखने वाला क्या है? कौन है? चंद्रगुप्त बोलो।

चंद्रगुप्त : क्षमा हो। वह इतना सहज नहीं है।

चाणक्य : जो सत्य है यदि वह बिलकुल असाध्य हो तो वह सत्य नहीं है। जो सबसे अधिक श्रेय है वह सबसे अधिक सहज नहीं होता। इसीलिए तो उसकी साधना करनी होती है। प्रकट होना ही साधना का प्रारम्भ है। चलो। प्रकट हो।

चंद्रगुप्त : आह! लगता है अभी मैं मूर्छित हो जाऊंगा।

[चाणक्य बढ़कर चंद्रगुप्त को सम्हालता है।]

चाणक्य : निर्भय हो! याद रखो, अपने गुरु के अंक में हो। डरो नहीं। अपने गुरु से भी नहीं। शास्त्र और ईश्वर से भी नहीं।

[चंद्रगुप्त संभलकर उठता है।]

चंद्रगुप्त : आह!

चाणक्य : श्रद्धा रखो अपने सत्य के प्रति। वह चाहे जैसा हो।

चंद्रगुप्त : वही है। वही। वही।

चाणक्य : हां वही। वह क्या है? बोलो।

चंद्रगुप्त : मेरे पिता महापद्मनंद के नौ पुत्र। विवाहिता रानी से आठ पुत्र। नौवां पुत्र मैं, चंद्रगुप्त मुरा नामक एक नाइन स्त्री से। आयु में सबसे बड़ा, ज्येष्ठ पुत्र मैं। हम सब भाई बचपन में एक साथ गंगा-तट पर शरद् पूर्णिमा के दिन चन्द्रिकोत्सव

मना रहे थे। अदृश्य कुंजों से वाद्य-यंत्र बज रहे थे। हम सब राजकुमार ज्योत्सना-स्नान कर रहे थे।

[सब नृत्यवत गतियों से लीला नहन करने लगते हैं। वाद्य-यंत्र क्रमशः उभरता चलता है। चरम-सीमा पर पहुंचकर चन्द्रगुप्त चीखता है।]

चंद्रगुप्त : सावधान ! तुम सब मिलकर मुझे गंगा में डुबोना चाहते थे। यह किसकी कपट चाल थी ? यह विश्वासघात क्यों ? मैं तुम्हारा सबसे बड़ा भाई···

[सब ठहाका मारकर हँस पड़ते हैं।]

चंद्रगुप्त : क्या ? मैं मुरा दासी का पुत्र ? मौर्य···वृषल···

['मौर्य' 'वृषल' असंख्य स्वरों में फैल जाते हैं।]

चंद्रगुप्त : चुप रहो।

[लोग हँस रहे हैं।]

चंद्रगुप्त : किसने कहा मैं शूद्र हूं ? मैं मुरा पुत्र मौर्य हूं। नहीं जानते मौर्य क्या है ? बताऊंगा मौर्य क्या होता है ? वृषाल क्या है ? क्यों किया ऐसा मेरे साथ ? मेरा जन्म कहां हो, यह क्या मेरे वश में था ? जो अवश है उसका अपमान ! निर्दयी··· अपराधी [कृपाण खींचकर सबको आतंकित करने का अभिनय]

चाणक्य : सिंहरण··· बंधुल··· माहालि··· सारंग··· प्रियंवदक···।

[चंद्रगुप्त अलग खड़ा रह गया है। ये सब चाणक्य के पास आते हैं।]

चाणक्य : आशीष दो, मैं तुम हो जाऊं ! आशीष दो मैं तुम्हें देखूं। तुम मुझे देखो।

सिंहरण : आर्यावर्त पतन के कगार पर है। यवन दूत पंचनद में घूम रहे हैं। पंचनद नरेश···

चाणक्य : नदी का कोई कगार देखा है ?

सिंहरण : बचपन में। गहरी नदी का ऊंचा कगार···

चाणक्य : डरो नहीं। भागकर कहां जाओगे ?

सिंहरण : नहीं, नहीं, मैं वहां नहीं जाऊंगा। मुझे मत खींचो··· नहीं नहीं नहीं।

[सिंहरण भागकर दूर जा गिर पड़ता है।]

बंधुल : मैं देखकर आया हूं। अनुभव है मेरा सब टूटे हैं। अलग हैं अपने से।

चाणक्य : और तुम ? बोलो कुशीनारा के मल्ल राजकुमार बंधुल ?

[सन्नाटा]

चाणक्य : सब परस्पर विरोधी हैं, क्योंकि सब में आत्म-विरोध है। मिलन-संयोग नहीं हो पा रहा है, वही तो विरोध है। (सहसा) तुम सब मुझसे प्रश्न करो। मैं तुम सबसे प्रश्न करूं ? उत्तर हमारा जीवन दे !

चंद्रगुप्त : कर्म के लिए अहंकार जरूरी है।

सिंहरण : अहंकार कोई व्यक्ति ही कर सकता है।

बंधुल : मैंने देखा—सब टूट रहा है।

माहालि : मेरा यह पैर वीणा के तार से कट गया!

प्रियंवदक : (अलग से) च च चा। बेचारा···वीणा के तार से इसका पैर कट गया। यह साफ-साफ कहने की हिम्मत नहीं है कि अपने चारों ओर के परिवेश की तलाश में घूमते-घूमते कामदक नगरी की गणिका के घर में घुस गये और उसने चोर समझ कर वीणा से ही पीटा।··· मुझे ऐसा कोई भय नहीं। परिवेश के नाम पर मैं सीधे यहां से अपने घर पहुंच गया। बस खाना और सोना यही तो सारा परिवेश है।

माहालि : मैं जो ढूंढ़ने गया था वह मुझे मिल गया।

प्रियंवदक : (अलग) मिल गया नहीं, मिल गयी।

[सारंग बढ़कर प्रियंवदक के कान में कुछ कहता है। दोनों ठहाका मारकर हँसते हैं। फिर गले से मिलते हैं। फिर हँसते हैं, फिर गले मिलते हैं।]

सारंग : गुरु जी बताइए हम लोग क्यों हँसे?

प्रियंवदक : लगे हाथ मैं भी पूछ लूं···हम लोग फिर गले क्यों मिले?

चाणक्य : मैं तुम सबसे पूछता हूं। तुमसे जानना चाहता हूं—हम चाहते कुछ हैं, करने कुछ और लग

जाते हैं। जो ढूंढ़ते हैं वह नहीं पाते। जो पाते हैं वह अपना नहीं होता।

माहालि : जो मैं ढूंढ़ने गया था, वह मुझे मिला।

सिंहरण : जो मैंने देखा वह चिंताजनक है।

माहालि : जो मैंने पाया वह आश्चर्यजनक है।

बंधुल : सब टूट रहा है।

[सन्नाटा]

चाणक्य : जो मैंने चाहा वही हो रहा है।

चंद्रगुप्त : वही शक्ति मुझे दो। मैं जो चाहूं वही हो।

चाणक्य : वही हम सब चाह रहे हैं। वही सब कर रहे हैं। उसी में सब लगे हैं।

[प्रियंवदक और सारंग]

प्रियंवदक : बताऊं क्यों हँसा? हँसा···

सारंग : सब के पीछे कोई न कोई कारण ढूंढ़ना यह हमारा नया सिर-दर्द है।

प्रियंवदक : सिर-दर्द नहीं, माथा-पीड़ा।

सारंग : फिर वही व्याकरण दोष माथा पुल्लिंग, पीड़ा··· पीड़ा का लिंग क्या है? तुम बताओ।

प्रियंवदक : आप बताओ?

[दोनों लड़ पड़ते हैं।]

सारंग : यह रही अष्टाध्यायी।

प्रियंवदक : यह रहा व्याकरण-शास्त्र।

सारंग : गुरु ने सच कहा—हम सब परस्पर विरोधी हैं।

प्रियंवदक : क्योंकि सबमें आत्मविरोध है।

सिंहरण : विरोध नहीं तो जीवन नहीं।

चंद्रगुप्त : अहंकार बिना कोई कर्म नहीं।

माहालि : आह ! वीणा के वे झनझनाते हुए तार।

बंधुल : त्याग, तपस्या और निष्ठा के बिना कहीं कोई जीवन नहीं ;

चाणक्य : जिस चीज का जिसमें अभाव है, वह उसी का नाम रटता है। (बढ़कर सबके बीच में) आओ, अपने द्वारा ही अपने आप को देखूंगा। तुम्हारे द्वारा ही अपने आप को पाऊंगा। बोलो अपने द्वारा ही अपने आप को देखूंगा। तुम्हारे द्वारा ही अपने आपको पाऊंगा।

[सब दुहराते हैं।]

चाणक्य : मैं ही कर्त्ता। मैं ही भोक्ता।

चंद्रगुप्त : मैं ही कर्त्ता। मैं ही भोक्ता।

चाणक्य : एक अचेतन विशाल गुप्त और निश्चेष्ट। दूसरा सचेतन सक्रिय चंचल परिवर्तनशील···।

[प्रियंवदक और सारंग, अलग से]

प्रियंवदक : क्या ?

सारंग : हमारे अंतःकरण के दो अंश···।

चाणक्य : जैसे भारत महादेश और उसका महासागर। महासागर जो कुछ संचय करता है, त्याग करता है, वही गुप्त तल महादेश में जमा होता है। हमारी

चेतना जो कुछ देख रही है, कर रही है, वही सब धीरे-धीरे संस्कार, स्मृति, अभ्यास के आकार में एक विशाल गोपन आधार लेकर अचेतन भाव से संचित होता जा रहा है। एकदम भीतर पैठकर उसकी निचली तह को क्या कोई नहीं खोज सकता?

[शीलबंधु प्रकट होते हैं।]

शीलबंधु : बुद्धि और विचार से यह नहीं जाना जा सकता। तुमने जो कुछ कहा, सब शब्द हैं निरर्थक शब्द। तुमने सबने अभी देखा क्या ? हां हां देखा, पर अपनी बुद्धि से। बुद्धि देखती नहीं। सोचती है। तुलना करती है। बांटती है। यथार्थ को अपने रंगों से रंग देती है। तब वह 'वह' नहीं रह जाता है। 'वह' मैं हो जाता है। दर्शन क्या है ? देखना ! तत्व ज्ञान। जो तत् है···' वह' उसी 'वह' को 'वह' के रूप में देखना। बिना 'वह' देखे तुम दृष्टा हो गये ? बिना कुछ किये-भोगे कर्त्ता और भोक्ता हो गये ? देखो, देखो, अपने इस झूठ को। देखने के लिए अपने से बाहर निकलो। करने के लिए जगत में उतरो। भोगने के लिए समाज में जाओ। करो। भोगो। बंधो। जाओ। बंधो। भोगो। फिर देखो तुम चाहते क्या हो ? तुम क्या हो ? यह सारा जगत्, सारा परिवेश क्या है ? 'वह' क्या है ? जाओ···।

[सब जाते हैं। शीलबंधु आशीष दे रहा है।]

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान : पाटलीपुत्र

समय : दोपहर

[दृश्य में एक ओर प्रियंवदक, दूसरी ओर सारंग। पृष्ठभूमि में (या प्रत्यक्ष सामने) वाद्य-यंत्र बजते हैं।]

प्रियंवदक : महापद्मनंद से अपमानित चाणक्य बदला लेने के लिए खड़ा था।

सारंग : महापद्मनंद के आठ पुत्रों से अपमानित चंद्रगुप्त प्रतिशोध लेने के लिए खड़ा था।

[एक ओर चाणक्य, दूसरी ओर चंद्रगुप्त खड़े दीखते हैं।]

प्रियंवदक : मगध राज्य की दशा बड़ी शोचनीय थी।

सारंग : महापद्मनंद आंतरिक कलह और अपने अंतर्विरोधों के कारण बिलकुल टूट चुका था।

प्रियंवदक : चाणक्य चालित सेना नंद के कुसुमपुर को चारों ओर से घेरे हुई थी।

सारंग : चंद्रगुप्त अपनी सेना को बराबर उत्साहित करता हुआ समूचे पाटलीपुत्र को जैसे अपनी मुट्ठी में भर लेना चाहता था।

प्रियंवदक : पन्द्रह दिनों तक कुसुमपुर, पाटलीपुत्र को बराबर घेरे रहने के कारण और बार-बार खंड-युद्ध में विजयी होने के कारण चंद्रगुप्त एक प्रकार से मगध-विजयी हो गया।

[प्रतिहारी एक चौकी ले आता है। चंद्रगुप्त बैठता है। वाद्य-यंत्र बजते हैं। राज-पुरोहित उसके सिर पर मगध का राजमुकुट रखता है।]

चाणक्य : देखो इसे राजमुकुट पहनने की कितनी जल्दी है! एक शिशु की तरह कितना आतुर है—मगध का राजा कहलाने के लिए! यह कैसी भूख है जो पूरे देश का हित न देखकर केवल अपनी क्षुधा देखती है! (सहसा रुककर) पर भारत एक पूरा देश कहां है? एक खंड है मगध! दूसरा है पंचनद, तीसरा है कौशल, चौथा खंड है मालव, और अलग-अलग राज्य हैं लिच्छवि और मल्ल राजकुमारों के। भारतवर्ष को अभी एक देश,

एक राष्ट्र होना है। मैं बनाऊंगा इसे एक राष्ट्र। मैं इसे एक आर्यावर्त की रचना करूंगा। अभी सिकन्दर पंचनद क्षेत्र में अपनी यवन सेना लिये वाट जोह रहा है···यहां गंगा सरयू घाटी में गृहयुद्ध छिड़े और किसी देशद्रोही के सहारे वह इस आर्य भूमि को अजगर की तरह निगल जाय!

[चाणक्य और चंद्रगुप्त जाते हैं। वाद्य-यन्त्र बजते हैं।]

प्रियंवदक : पराजित महापद्मनंद ने नगर से निकलकर चले जाने की आज्ञा मांगी।

सारंग : चंद्रगुप्त इस बात से सहमत हो गया कि नंद अपने साथ जो कुछ ले जा सके ले जाय।

प्रियंवदक : यह चाणक्य की सूझबूझ थी। यदि नंद को मार दिया जाता तो डर था कि मगध की प्रजा विद्रोह कर बैठती।

सारंग : चंद्रगुप्त को मगध की प्रजा पर शासन करना था।

प्रियंवदक : पर सुना यह गया कि जानबूझकर नंद को मगध से बाहर जाने दिया गया और गुप्त ढंग से उसकी हत्या कर दी गयी।

सारंग : इसी तरह पंचनद नरेश पर्वतेश्वर की हत्या बिना अपराध चाणक्य ने की।

[वाद्य संगीत बजता है। मंच खाली हो जाता है।]

दूसरा दृश्य

[प्रियंवदक और सारंग को अपने साथ लिये चाणक्य का प्रवेश। वाद्य-यंत्र का संगीत उभर रहा है। चारों दिशाओं से क्रमशः चंद्रगुप्त सिंहरण, बंधुल और माहालि आते हैं।]

चाणक्य : कहो चंद्र! राजा बनना कैसा लगा?

चंद्रगुप्त : सब आपका आशीर्वाद!

चाणक्य : राजा बनना कैसा लगा?

चंद्रगुप्त : आपको कैसा लगा?

चाणक्य : मैं तुमसे पूछ रहा हूं।

चंद्रगुप्त : राजा बनना अच्छा लगा। पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है मगध राज्य का शासन चलाना। नंद-वंश का समूचा नाश हो चुका है। पर नंद के पक्षधर अभी हैं। निर्बल शासन के पीछे जो स्वार्थ-साधना चाहते हैं, वे अप्रसन्न हैं और···

चाणक्य : (स्वगत) बिलकुल बच्चे की तरह बात कर रहा है राजा चंद्रगुप्त। मगध राज्य की सीमा के बाहर निकलने में जैसे इसे भय लगता है। इसके लिए इसका शिशु संसार केवल मगध है। (प्रकट) पता है मगध के बाहर भी एक संसार है।

चंद्रगुप्त : हां, आंभीक के शिविर में सिकंदर अपनी शक्ति के साथ खड़ा है।

चाणक्य : आंभीक के शिविर में नहीं। अब सिकंदर के शिविर में आंभीक पड़ा है। (रुककर) सच-सच बताओ—महापद्मनंद के विनाश से तुम्हारा क्रोध शांत हो गया ?

चंद्रगुप्त : नहीं। जब तक सिकंदर को भारत-भूमि से निकाल बाहर न कर दूं; जब तक यवन सेना को मिट्टी में न मिला दूं। देशद्रोही आंभीक का विनाश न कर दूं···

चाणक्य : भारत क्या है ? देश क्या है ?

चंद्रगुप्त : समूचा आर्यावर्त भारत देश है।

चाणक्य : समूचा आर्यावर्त क्या है ?

चंद्रगुप्त : (चुप है।)

चाणक्य : इसे तुम क्रोध से नहीं जान सकते। क्रोध प्रतिक्रिया है। क्रोध अज्ञान है। अज्ञान से कहीं कुछ नहीं जाना जा सकता। पर क्रोध तुम्हारा यथार्थ है। यद्यपि वह असत्य है। तो भी क्रोध से मुक्ति क्रोध ही दिला सकता है। वह क्रोध जो कर्म को अग्नि बनाकर उसमें स्वतः भस्म हो। अग्नि तभी होगी जब कर्म-यज्ञ हो।

चंद्रगुप्त : आर्यश्रेष्ठ ! आप सत्य कहते हैं।

चाणक्य : सत्य कहा नहीं जाता। सत्य कहने में नहीं, कर्म

और भोग में है। मैंने पंचनद क्षेत्र में उस स्थिति की रचना कर दी है—जहां तुम अपनी पूरी शक्ति से सिकंदर की शक्ति से प्रत्यक्ष लोहा लोगे। आंभीक के साथ प्रमुख यवन और आर्यगण की उपस्थिति में सिकंदर के साथ तुम्हारा युद्ध होगा। तुम्हारी खड्ग परीक्षा की अग्नि से एक भारत देश, एक आर्यावर्त का निर्माण शुरू होगा।

चंद्रगुप्त : हम तैयार हैं।

चाणक्य : बोलो मालवगण कुमार सिंहरण ?

सिंहरण : मैं तन-मन-धन से आर्य चंद्रगुप्त के साथ हूं।

चंद्रगुप्त : पर अपने साथ हो या नहीं ?

सिंहरण : अपने साथ हूं।

चाणक्य : अपना क्या है ?

सिंहरण : अपना चरित्र, जिसे निरंतर पाऊंगा इस विराट युद्ध से, जो भीतर-बाहर सर्वत्र चल रहा है। वही है मेरा आर्यावर्त···मेरा भारत देश !

चाणक्य : सत्य है। सब कुछ उसी 'मेरा' से ही शुरू होता है। 'मुझ' से ही सब कुछ जुड़ता है और तभी प्रकाशित होता है 'मैं'। सुनो मालव कुमार। तुम अपनी सेना के साथ बाहर से उस रंगशाला की रक्षा में तैनात रहोगे जहां सिकंदर के साथ चंद्रगुप्त का खड्ग युद्ध होगा।

सिंहरण : आज्ञा शिरोधार्य है।

चाणक्य : कहो मल्ल राजकुमार बंधुल ! तुम इस युद्ध में साथ हो ?

बंधुल : आर्य, मैं साथ जा रहा हूं।

चाणक्य : साथ जाना एक है, साथ होना कुछ और है ! बोलो तुम अपने साथ हो ?

बंधुल : हूं।

चाणक्य : चंद्रगुप्त के साथ क्यों हो ? निःसंकोच, निष्कपट होकर जवाब दो।

बंधुल : मल्लों और लिच्छिवियों से परस्पर हमारे वैर हैं। विजयी चंद्रगुप्त की सहायता से मैं लिच्छिवियों से अपने वैर का बदला लूंगा !

चाणक्य : शाबाश ! गृहयुद्ध की योजना बनाकर चंद्रगुप्त के साथ हो। वाह ! (रुककर) क्यों लिच्छवि कुमार माहालि, तुम भी इस युद्ध में साथ जा रहे हो ?

माहालि : चूंकि बंधुल जा रहे हैं, इसीलिए मैं भी जा रहा हूं।

चाणक्य : यदि बंधुल न जाते तब क्या करते ?

माहालि : गुरुजी, यह पूछिए कि अगर मल्लों और लिच्छिवियों में इस तरह वैर न होता तो मैं क्या करता ?

चाणक्य : अच्छा !

माहालि : सच-सच बताऊं गुरुजी, तक्षशिला गुरुकुल की

उस यात्रा में, याद है न, आपने हमें परिवेश अध्ययन के लिए भेजा था; जिस सुंदरी के वीणा तार से मेरा पैर कट गया था, मैं शांतिपूर्वक उसी के पास बैठकर···।

[प्रियंवदक और सारंग को हँसी आ जाती है।]

माहालि : देखिए ये लोग हँसते हैं।

चाणक्य : इसलिए कि तुम प्रेमी हो और दूसरे के कारण युद्ध करने जा रहे हो। सुनो ! तुम युद्ध में नहीं जाओगे !

माहालि : फिर क्या करूंगा ?

चाणक्य : उसी सुंदरी का वीणा संगीत सुनोगे।

माहालि : नहीं, नहीं महाराज, ये लोग मुझे कायर कहेंगे। मुझ पर हँसेंगे। मल्ल राजकुमार बंधुल हम लिच्छिवियों पर आक्रमण करेगा। यह वैर का बदला लेगा।

चाणक्य : जो यथार्थ है उसे देखो।

[चंद्रगुप्त, सिंहरण और बंधुल जाते हैं।]

माहालि : नहीं नहीं, मुझे जाने दीजिए। मैं वीर हूं। मैं युद्ध करूंगा।

[जाते हुए माहालि को प्रियंवदक और सारंग पकड़ लेते हैं। वह छटपटाता है।]

माहालि : मुझे जाने दीजिए। मैं यवनों से खड्ग युद्ध करूंगा। मैं वीर हूं। पराक्रमी हूं। लिच्छवि

राजकुमार हूं। बंधुल की यह हिम्मत ! मल्लों ने अपने आप को समझ क्या रखा है !

[दोनों उसे एक ओर ले जाते हैं।]

माहालि : जो है वह, वही हो नहीं पाता। वह उसे पूरी निष्ठा के साथ स्वीकार नहीं लेता। वह दूसरे के कारण वही दूसरा बनना चाहता है। पर वह दूसरा क्या है ? दूसरा भय है ? नहीं। जो अपने आपसे अलग है उसी के लिए दूसरा भय है।

तीसरा दृश्य

[माहालि बैठा रो रहा है। सारंग धोती लिये खड़ा है। धोती को पकड़े माहालि उससे अपने आंसू पोंछता है।]

सारंग : हे ! जल्दी-जल्दी आंसू वहा लो। वह आ रही होगी। बस, पहुंचने को है। भला उसका नाम क्या है ? ओह ! च च च ! नाम नहीं पता ! उसका नाम है सिंधुतरी !

माहालि : सिंधुतरी !

सारंग : हां, सिंधुतरी। तुम्हारे आंसुओं के सिंधु में वह नौका है, सिंधुतरी ! कितना सुन्दर नाम है। कितना अच्छा संयोग। तुम आंसुओं के सिंधु, वह तरी।

[दूसरी ओर प्रियंवदक रथ पर बैठाये सिंधुतरी को ले आने का अभिनय करता हुआ ले आता है।]

प्रियंवदक : आह ! हम पहुंच गये। देवि, आप यहां बैठें। मैं उस विरही को ढूंढ़ लाता हूं। (रुककर) देवि, हमें क्षमा करें, हमने आपको गणिका, नहीं नहीं, नगर-वधू समझ लिया। बात यह हुई कि गुरुकुल में माहालि ने जिस तरह वीणा के तारों से अपने

पैर कटने की बात कही, हमें भ्रम हो गया। कहिए आपने हमें क्षमा कर दिया।

सिंधुतरी : क्षमा।

प्रियंवदक : आह। सारा श्रम सुफल हो गया।

[जाता है।]

प्रियंवदक : ओह तुम लोग यहां हो। राजकुमार! वह आ गयीं।

सारंग : कौन ?

प्रियंवदक : वही।

सारंग : वही कौन ?

प्रियंवदक : लो ! मारे घबराहट के नाम ही भूल गया।

माहालि : सिंधुतरी।

प्रियंवदक : हां हां सिंधुतरी, सिंधुतरी, सिंधुतरी !

सारंग : मुझे भी याद कर लेने दो।

[दोनों नाम रटने लगते हैं। माहालि डांटता है।]

प्रियंवदक : धन्यवाद भी नहीं कहा, उल्टे डांटते हो !

सारंग : हां नहीं तो ! गुरु के वचन भूल गये—कृतज्ञ होना आर्य धर्म है !

माहालि : चुप रहो ! मुझे उसके पास ले चलो। नहीं तो इसी खड्ग से तुम दोनों के सिर काट लूंगा।

सारंग : जै हो आंसूवाही परमवीर की !

[सारंग दौड़कर उसी कपड़े को फैलाकर सिंधुतरी के सामने खड़ा हो जाता है। प्रियंवदक माहालि को संग लेकर चलता है।]

प्रियंवदक : अरे ! वह कहां चली गयी ? यहीं तो बैठाया था। अरे यह कैसा आश्चर्य है ! बड़ा रहस्यमय लगता है ! देवि कहां चली गयीं ?

[माहालि जोर से रो पड़ता है। रोते-रोते मूर्छित हो जाता है।]

प्रियंवदक : अरे यह तो मूर्छित हो गया।

[सारंग वस्त्र बटोरकर आता है।]

सारंग : हाय मुझे क्या पता, प्रेम इतना निर्बल होता है।

प्रियंवदक : देवि ! आप कृपाकर कुछ गायें।

सारंग : निश्चय ही यह उठ खड़ा होगा।

[वह गाती है।]

निद्रा से मुझे जगाया रे
प्रियतम से मुझे छिपाया रे।
तज क्षितिज गया है चंद्र कहां
है बंद तिमिर में कुमुद यहां
हुआ कमल छोड़ कहां जाना रे।
प्रियतम से मुझे छिपाया रे
निद्रा से मुझे जगाया रे॥

[सारंग और प्रियंवदक एक किनारे खड़े हैं। माहालि धीरे-धीरे जगता है।]

प्रियंवदक : जग रहा है।

सारंग : उठ खड़ा हो रहा है।

प्रियंवदक : कैसे देख रहा है।

सारंग : वह भी एकटक निहार रही है।

प्रियंवदक : दोनों !

सारंग : हमें यहां से हट जाना चाहिए। यह धर्म के प्रतिकूल है।

प्रियंवदक : देखना धर्म है ! गुरु ने बारंबार कहा है—देखो। देखो। देखो !

सारंग : देखने का मतलब यह नहीं है।

प्रियंवदक : तू जाकर धर्मग्रंथ में मतलब देख। मैं यहीं प्रत्यक्ष देखूंगा।

सारंग : तो मैं जाऊं ?

प्रियंवदक : देख ! देख !

सारंग : अच्छा तो मैं भी देखूं।

[दोनों छिपकर देखने लगते हैं।]

माहालि : अहा ! मैं कोई स्वप्न तो नहीं देख रहा !

सारंग : धत्त तेरे की !

माहालि : (गा पड़ता है।)

घर तज भटक रहा मैं दूर
प्रिया हीन उर भर भर आता !

सारंग : कितना बेसुरा गा रहा है।

प्रियंवदक : अरे कविता करने लगा।

सारंग : आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं हो रही है, तभी तो···।

प्रियंवदक : देखो देखो वह खुद बढ़ रही है, बेचारी।

[विराम]

सिंधुतरी :

पूर्व-~~जन्म~~ का साथी जो सो खड़ा हृदय में आय।
जीवित पर जड़वत प्रिय मूरति देख दृष्टि अकुलाय॥
परिचित प्रिय है पास न वह कुछ कहे न मैं ही बोलूं।
बिन अवसर चंचल पीड़ित यह अंतरतल कहां खोलूं॥

प्रियंवदक : अरे बुद्धू उत्तर दे उत्तर !

[सारंग गा पड़ता है।]

प्रेम पुरुष में हो या नहीं रे
स्त्री के मन में है, बात सही रे।

प्रियंवदक : चुप रह ! वह उत्तर दे रहा है।

[विराम]

माहालि : सिंधुतरी ! जागो। मैं लिच्छिवि राजकुमार माहालि हूं।

सिंधुतरी : मेरे राजकुमार ! जागो। मैं सिंधु देश की राजकुमारी सिंधुतरी हूं।

माहालि : प्रमाद के घर में आंसू पोंछने का जो अधिकार न था, वह आज प्राप्त हुआ। पर जिस मुख को देखने और जिस पर मुग्ध होने का अधिकार वहां उस समय न था, उस पर आज भी नहीं ! किन्तु क्षमा करना। जिसे देखे बिना नहीं रहा गया, उसे आज देखा, देख रहा हूं और देखता रहूंगा।

सारंग : तो इतना बोलता क्यों है ?

सिंधुतरी : तुम अपनी मूर्छा से सुखी हो सकते हो, पर मैं नहीं। मुझे तो तभी सुख मिल सकता है जब तुम्हारी जैसी मूर्छा मुझे भी मिल जाय।

प्रियंवदक : बस भाई बस, जो होना था सो हो गया। अब फूट जाओ यहां से, वरना कहीं गुरुजी ने देख लिया तो लेने के देने पड़ जायेंगे।

सारंग : पर भइया हमारी क्या गत बनी। न देखा गया न बोला गया, हृदय यह तनिक भी न खोला गया। गुरुजी ने हमसे कुछ न पूछा कि हम क्या हैं और क्या चाह रहे हैं।

प्रियंवदक : और क्या कर रहे हैं !

सारंग : आयेगी आयेगी।

प्रियंवदक : हमारी बारी भी आयेगी।

[दोनों जाते हैं।]

माहालि : प्रिये, मैं बहुत दुखी हूं।

सिंधुतरी : आपने मेरा दुख दूर कर दिया।

माहालि : पर मेरा दुख और बढ़ गया।

सिंधुतरी : ऐसा क्यों ?

माहालि : यह पूछो कि मैं तुम्हारी वीणा का संगीत सुनते-सुनते उस तरह भागा क्योंकि अपना पैर काट लिया। (रुककर) जहां कहीं भी मैं प्रेम में बंधने लगता हूं, वहां से मैं भयभीत भागता हूं। किन्तु

प्रेम बिना मैं कहीं रह नहीं सकता। उसका आकर्षण मुझे खींचता रहता है।

सिंधुतरी : हमारा दुख-सुख समान है। उसी ने इस तरह हमें मिलाया।

माहालि : पर मैं केवल दुखी हूं।

सिंधुतरी : आप प्रेम में बंधने लगते हैं, यही दुख है। प्रेम आपके लिए अहंकार है, यही दुख का मूल है।

माहालि : सिंधुतरी। तुम क्या हो ? कौन हो तुम ?

सिंधुतरी : तुम कौन हो ? क्या हो ?

माहालि : मैं केवल प्रेम हूं।

सिंधुतरी : फिर बंधन क्यों अनुभव करते हो ?

माहालि : यही नहीं जानता। और प्रेम का दुख मुझे विच्छू के डंक जैसा चुभता है। और यह पीड़ा हवा की भांति मुझे चारों ओर से जकड़ लेती है।

सिंधुतरी : चारों ओर देश और समाज है। उससे जुड़ना होगा। विराट दशा से बंधकर ही उसके भीतर से अपना प्रेम पाया जा सकता है। प्रेम ही प्रेम से मुक्ति दिला सकता है। जैसे संसार के प्रश्नों को संसार ही हल कर सकता है।

माहालि : मेरे लिये तुम्हीं मेरा संसार हो।

सिंधुतरी : मेरे लिये तुम्हीं मेरा कल्याण हो ! चलो जिस कार्य में तुम्हारे मित्र चंद्रगुप्त और गुरुदेव चाणक्य

लगे हैं उसी कार्य से हम भी जुड़ जायं और अपने प्रेम को सार्थक करें।

माहालि : हमें क्या करना होगा ?

सिधुतरी : जो हम हैं, हमें वही करना होगा।

[दोनों जाते हैं।]

चौथा दृश्य

[राक्षस को बंदी बनाये हुए सिहरण और बंधुल आते हैं।]

सिहरण : गुरुदेव ! गुरुदेव !

बंधुल : गुरुदेव !

[प्रियंवदक आता है।]

सिहरण : गुरुदेव कहां हैं ?

प्रियंवदक : संध्या-पूजा कर रहे हैं।

[सारंग आता है।]

सारंग : यह कौन है ?

सिहरण : नंद का मंत्री राक्षस !

सारंग : अच्छा तो यही राक्षस है !

प्रियंवदक : पर इसमें राक्षस क्या है ?

सारंग : न सींग हैं, न पूंछ है, न बड़े-बड़े दांत हैं।

बंधुल : सब इसके पेट में हैं।

[चाणक्य का प्रवेश]

चाणक्य : चंद्रगुप्त कहां है ?

सिहरण : युद्धबंदियों का प्रबन्ध कर आ रहे हैं।

चाणक्य : द्वन्द्व-युद्ध में क्या हुआ ?

बंधुल : चंद्रगुप्त ने बड़ी वीरता से युद्ध किया। सिकंदर मारा गया।

चाणक्य : साधुवाद !

सिंहरण : समस्त उत्तरापथ में सिकंदर के मारे जाने पर नया उत्साह फैल गया।

बंधुल : आर्य, अनेक प्रमुख यवनों और आर्यगणों की उपस्थिति में वह युद्ध हुआ। वह खड्ग परीक्षा देखने योग्य थी। वह वीर दृश्य अभिनंदनीय था। आपकी योजनानुसार सिंहरण अपनी सेना सहित शिविर के बाहर तैनात था। मैं युद्धशाला की रक्षा कर रहा था। घायल सिकंदर के गिरते ही भयानक हलचल हुई, पर वह पराजय का क्षोभ था। एक ओर से सिकंदर का सहायक यूडेमिस दौड़ा, दूसरी ओर से आंभीक, आर्य योद्धाओं ने उनके सिर काट लिये। फिर यह राक्षस अपनी शक्ति के साथ हमें घेरने को दौड़ा। चंद्रगुप्त के हाथों यह बन्दी हुआ।

राक्षस : वह युद्ध नहीं कपट-युद्ध था।

चाणक्य : आंभीक क्या था ? तुम क्या हो ? राक्षस को मुक्त कर दो !

सिंहरण : यह विश्वासघाती है।

बंधुल : आर्य, चंद्रगुप्त की आज्ञा है, इसे मुक्त न किया जाय।

चाणक्य : चंद्रगुप्त बालक है।

[राक्षस मुक्त होता है।]

चाणक्य : जाओ राक्षस, तुम मुक्त हो। मगध राज्य में अपनी शक्ति का संगठन कर तुम्हें अभी संघर्ष करने हैं। मेरा कोई शत्रु नहीं। मेरा कोई मित्र नहीं। मैं ही अपना शत्रु हूं। मैं ही अपना मित्र हूं। अभी पूजा करते समय मैंने सूर्य को देखा।

प्रियंवदक : (अलग) सूर्यास्त के बाद सूर्य देखना। आश्चर्य है !

चाणक्य : एक सूर्य को देखते-देखते असंख्य सूर्य देखने लगा। हर एक सूर्य गतिमान था। सारे सूर्य एक शून्य के चारों ओर घूम रहे थे। मैं उस शून्य में प्रवेश करने लगा। और मुझे अनुभव होने लगा, अब मैं वह हूं जो वास्तव में हूं।

राक्षस : वास्तव में तुम मायावी हो। हत्यारे··· जघन्य अपराधी। तुम्हीं ने महापद्मनंद की हत्या की। पर्वतेश्वर, आंभीक और नंद के पुत्रों को मारा···।

[सिंहरण और बंधुल राक्षस पर खड्ग द्वारा आक्रमण करते हैं, चाणक्य उन्हें रोक देता है।]

चाणक्य : इसे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर लेने दो। यह दुख और संताप में डूबा है, इसे प्रकाशित होने दो ! इसका अहंकार घायल है। घाव में से रक्त बह जाने दो।

राक्षस : क्या तेरा अहंकार घायल नहीं ?

चाणक्य : हम सब का अहंकार घायल है। मेरा, तेरा, चन्द्रगुप्त, मलयकेतु, सिंहरण, बंधुल, हम सब का। तभी तो हम प्रतिक्रिया के जगत में हैं। वह कौन था जिसने किशोर चंद्रगुप्त को मुरा दासी का शूद्र पुत्र कहा? वह कौन था जिसने मुझे नंद की श्राद्धशाला में समस्त ब्राह्मणों के सामने कुरूप मलेच्छ ब्राह्मण कहा? गुरु-कृपा से जिस क्षण से मैं उस घाव को देखने लगा, मैं जाग गया। मेरी रात बीत गयी। मेरे चित्त में प्रातःकाल हुआ। करुणा का सूर्योदय हुआ। मैं देखने लगा—क्या है मेरा श्रेय? क्या है मेरा प्रेय? मेरा श्रेय है आर्यावर्त, एक भारत देश। किसी राज्य का खंड नहीं। कोई शूद्र-अशूद्र नहीं। कोई आर्य-अनार्य नहीं। एक अखंड एक। और मेरा प्रेय है मेरी हिंसा, प्रतिहिंसा, मेरी कुटिलता, मेरी इच्छा, मेरी लालसा, मेरा क्रोध। श्रेय और प्रेय दोनों को खुली आंखों से, अपने कर्मों से देख और भोगकर ही पाऊंगा मैं क्या हूं? चाणक्य क्या है? चंद्रगुप्त और यह संसार क्या है? जाओ अपना काम करो और देखो तुम क्या हो! मैं क्या हूं और यह भोग जगत क्या है! जाओ! डरो नहीं! निर्भय होकर पूरी निष्ठा के साथ मुझे और चन्द्रगुप्त को पराजित, नष्ट करने का यत्न करो।

राक्षस : व्यंग-वाण मेरे लिये असह्य हैं।

चाणक्य : पर यह यथार्थ है। इसे खूब कस कर पकड़ते क्यों नहीं?

[राक्षस जाता है।]

चाणक्य : तुम सब जाओ। राक्षस नगर भर में उत्तेजना फैला सकता है। सिंहरण! बंधुल पर ध्यान रखना। इसके मन का यथार्थ है मल्ल और लिच्छवि में वैर। यह चाहता है मल्ल रहें, लिच्छवि नष्ट हो जायं। यह सोचता है मल्ल आर्य हिन्दू हैं, लिच्छवि बौद्ध अनार्य हैं। यह दूसरे को नहीं देख पाता। स्वयं को देखता है दूसरे के नाम पर।

[सब जाते हैं।]

प्रियंवदक : गुरुजी, हम लोग भी जायं?

सारंग : गुरुजी, हमें क्या आज्ञा है?

[विराम]

प्रियंवदक : (अलग सारंग से) आश्चर्य है! हमारी ओर ध्यान ही नहीं।

सारंग : हमारी बात जैसे सुनायी ही नहीं पड़ती।

प्रियंवदक : तुम तो मेरी बात सुन रहे हो न?

सारंग : तुम मेरी बात सुन रहे हो न।

प्रियंवदक : हां, हां, सुन रहा हूं। तुम्हारे मुंह से बोली निकल रही है। और मेरे?

सारंग : पता नहीं।

प्रियंवदक : क्या कहा, अनार्य ?

सारंग : अगर फिर अनार्य कहा तो मैं भी अपनी चुटिया खोल दूंगा।

प्रियंवदक : बस बस बस ! नंद के उस अभागे पुत्र, हिरण्यगर्भ की तरह न हम गूंगे हैं, न बहरे।

सारंग : सुना है वह बहरा नहीं, सिर्फ गूंगा है।

प्रियंवदक : यह कैसे हो सकता है। जो बहरा है वही गूंगा हो सकता है।

सारंग : श्री ऽऽ आर्य चंद्रगुप्त आ रहे हैं।

प्रियंवदक : साथ में कोई अपूर्व सुन्दरी है। ग्रीक देश की लगती है। ग्रीक महासुन्दरी !

[चंद्रगुप्त और कार्नेलिया आते हैं। चंद्रगुप्त चाणक्य का चरण-स्पर्श करता है।]

चंद्रगुप्त : यही हैं गुरुदेव, आर्यश्रेष्ठ चाणक्य !

कार्नेलिया : मेरा प्रणाम स्वीकार हो !

चाणक्य : सौभाग्यवती हो !

कार्नेलिया : आश्चर्य है, आप लोग सबको आशीर्वाद देते हैं जानते हैं मैं कौन हूं।

चाणक्य : आशीष के लिए परिचय की आवश्यकता नहीं।

चंद्रगुप्त : सिकंदर के सेनापति सिल्यूकस की कन्या कार्नेलिया।

चाणक्य : इस देवि को मैं जानता हूं। यह जिस महात्मा से वेद और उपनिषद की शिक्षा ले रही है, वह

मेरे गुरुभाई अकुलश्री हैं। वह जन्मांध हैं, पर दिव्य दृष्टिवान हैं ! (सहसा) पर तुम दोनों की भेंट कैसे हुई ? सिकंदर की मृत्यु से···।

कार्नेलिया : नहीं नहीं, यह क्या कह रहे हैं ? अलक्षेन्द्र जीवित हैं।

चाणक्य : ओह ! उन्होंने झूठ कहा। क्षमा देवि, मुझे भ्रम हो गया था।

कार्नेलिया : आप जैसे गुरु को भी भ्रम होता है, यह जानकर दुख हुआ।

चाणक्य : अगर भ्रम बाहर है तो मुझे क्यों नहीं होगा ? अगर शिष्य झूठे हैं तो गुरु झूठा होगा। (रुककर) चंद्र, जाओ विश्राम करो, थके होगे।··· जाओ आतिथ्य का प्रबन्ध करो।

[चन्द्रगुप्त के साथ प्रियवंदक और सारंग भी जाते हैं।]

चाणक्य : देवि, आशा छोड़ दो तभी ज्ञान मिलेगा।

कार्नेलिया : आशा छोड़ दूं ?

चाणक्य : आशा भ्रम है। देखो न, तुमने मोहवश यह आशा पाल रखी थी कि मुझ जैसे गुरु को भ्रम नहीं होता। पर होता है—यह जानकर तुम्हें दुख हुआ। क्यों ? तुम्हीं ने आशा की थी। मैंने नहीं। (रुककर) बैठो ! चंद्र से तुम्हारी भेंट कैसे हुई ?

कार्नेलिया : मुझे बैठना अच्छा नहीं लगता।

चाणक्य : उपनिषद् का अर्थ ही है—पास बैठकर सुनना।

[कार्नेलिया मुस्करा पड़ती है।]

कार्नेलिया : ग्रीक सम्राट सिकंदर और चंद्रगुप्त का वह खड्ग युद्ध देखने योग्य था। वह वीर-दृश्य आश्चर्यजनक था। परम वीर सिकंदर का खड्ग टूटा था। वह आहत, भूमि पर गिरने जा रहे थे। चंद्रगुप्त ने खड्ग फेंककर गिरते हुए अलक्षेन्द्र को अपनी दायीं भुजा पर संभाल लिया। सम्राट ने पूछा—ऐसा क्यों ? चंद्रगुप्त ने कहा—भारतीय वीरता में विश्वास रखते हैं, हत्या में नहीं।

चाणक्य : सावधान, आशा न करने लगना। (रुककर) सिकंदर अपनी सेना सहित वापस लौट गया ?

कार्नेलिया : हमने उन्हें गांधार सीमा के उस पार विदा दी।

चाणक्य : और राजा आंभीक ?

कार्नेलिया : उसी युद्ध में वह मारे गये।

[प्रियवंदक आता है।]

प्रियंवदक : देवि, चलकर आतिथ्य स्वीकार करें।

[प्रियवंदक के साथ कार्नेलिया जाती है।]

पाँचवाँ दृश्य

[चाणक्य के सामने सिंहरण और बंधुल]

चाणक्य : सच सच बताओ, मुझसे झूठ क्यों कहा ? असत्य क्यों बोले कि चंद्रगुप्त के खड्ग से सिकंदर मारा गया ? (अलग से) देखिए, जो झूठे हैं उन्हीं से सत्य बोलने को कह रहा हूं। (प्रकट) डरो नहीं। जब झूठ बोलते हुए नहीं डरे···।

सिंहरण : मुझसे बंधुल ने कहा···।

बंधुल : मैंने आर्यवीरों को शिविर में जय-जयकार करते हुए देखा।

चाणक्य : देखा या सुना ?

बंधुल : सुना और देखा भी।

चाणक्य : क्या देखा ?

[दोनों चुप हैं।]

चाणक्य : अपने आप को देखा। जो अपनी कामना थी, सिकंदर अपने चंद्रगुप्त के खड्ग से मारा जाय, वही देखा। जो है, वह नहीं दिखायी पड़ा। सत्य है, हम देखते नहीं, बुद्धि से सोचते हैं।

सिंहरण : क्षमा गुरुदेव !

बंधुल : मुझे भ्रम हुआ ।

चाणक्य : कहीं कोई क्षमा नहीं है । कहीं कोई भ्रम नहीं है बाहर के जगत में । सब कुछ हमारे भीतर है । सुनो ! भ्रम से मुक्ति पाने के लिए तुम्हें भ्रम-जाल में जाना होगा । सिंहरण तुम्हें अपना रूप बदलना होगा । आज से तुम्हारा नाम जीवसिद्धि हुआ । तुम बौद्ध भिक्षु के रूप में राक्षस के पास रहोगे । उसके परम विश्वासपात्र जीवसिद्धि तुम वहां मेरे गुप्तचर होगे ।

सिंहरण : आज्ञा शिरोधार्य है ।

चाणक्य : बंधुल ! तुम मेरे दूसरे गुप्तचर होगे । आज से तुम्हारा नाम सिद्धार्थक हुआ । मेरे गुप्तचरों ने बताया है कि आमात्य राक्षस के दो परम मित्र हैं । एक है सेठ चंदनदास जौहरी, जिसके यहां राक्षस का परिवार छिपा है । दूसरा है शकटदास कायस्थ । तुम शकटदास के परम मित्र बनकर रहोगे ।

बंधुल : जो आज्ञा गुरुदेव ।

चाणक्य : तत्काल कार्य यह है कि आज संध्या समय मगध के प्रतिनिधि नागरिकों की एक सभा बुलायी गयी है । एक ओर मैं रहूंगा, दूसरी ओर राक्षस । राक्षस के प्रति जनमत क्या है, कितना है, इसका मुझे प्रत्यक्ष पता लगाना है । सभा में भेष बदलकर

तुम उपस्थित रहोगे और समय देखकर तुम राक्षस के पक्ष से मेरे विरोध में बहुत ऊंचे स्वर में बोलने लगोगे । शकटदास तुमसे आकृष्ट होगा ।

[दोनों जाते हैं । दूसरी ओर से माहालि आता है ।]

माहालि : गुरुदेव के चरणों में प्रणाम !

चाणक्य : कहो ! वीणा के तारों का घाव ठीक हो गया ?

माहालि : अब तो वह घाव हृदय में चला गया ।

[प्रियंवदक और सारंग हँसते हैं ।]

माहालि : देखिए, ये हँसते हैं ।

चाणक्य : आनंद लो न ! दुखी क्यों होते हो ?

माहालि : मेरा दुख···मेरा दुख वही सिंधुतरी है । वह कहती है जगत के अनुराग के भीतर से अपने प्रेम को मुझसे जोड़ो । पहली बात तो यह कि यह उल्टी-सीधी बात मेरी समझ में नहीं आती । दूसरी बात यह, गुरुदेव क्षमा कीजिए, आपने हमें सब शास्त्र पढ़ाया, प्रेमशास्त्र नहीं पढ़ाया ।

चाणक्य : जानता ही नहीं प्रेम क्या है । पहले प्रेम करूं तभी तो··· ।

माहालि : क्षमा हो गुरुदेव ! आप तो दिन-रात राजनीतिक दांवपेंच और शक्ति के कुचक्र में लगे रहते हैं ।

चाणक्य : वही, प्रेम नहीं है । प्रेमानुभूति से विहीन आत्म-शक्ति कुचक्र में लग जाती है ।

माहालि : ऐ ! तुम लोग यहां से जाओ। हम कुछ परम ज्ञान की चर्चा कर रहे हैं।

[सारंग और प्रियवंदक को भगाता है।]

माहालि : गुरुदेव ! आप तो इतने महापराक्रमी, समर्थ पुरुष हैं, कहीं प्रेम कर क्यों नहीं लेते ?

चाणक्य : देश-प्रेम, मानव-कल्याण व्रत क्या प्रेम नहीं है ?

माहालि : यह सब अपने आपको धोखा देना नहीं है ?

चाणक्य : है ! है ! है ! (रुककर) ज्ञान आते ही यौवन चला जाता है। जब तक माला गूंथी जाती है, फूल कुम्हला जाते हैं। गुरु ने कहा था—समस्त ज्ञान अहंकार है। हृदय को मरुभूमि बना देने वाली। एक क्षीण, कोमल अनुभूति है···सुवासिनी··· उसी के लिए तड़पता हुआ कुसुमपुर जा रहा था और रास्ते में कुश का वह गड़ना···महापद्मनंद की श्राद्धशाला में वह घोर अपमान··· ।

माहालि : सुवासिनी ! नंद की रंगशाला की वह महान नर्तकी ! मैंने देखा है। वह है। मैं उस पूज्या के पास जाऊंगा।

चाणक्य : नहीं ! नहीं !

माहालि : आप डरते हैं ? महागुरु शीलबंधु ने कहा था—जो भाव पैदा होता है, वह बिना भोगे नहीं मिटता।

चाणक्य : माहालि !

[माहालि चला जाता है।]

चाणक्य : यह कैसा रहस्य है ! इच्छा भीतर है पर कामना बाहर है। भाव अंतस में है। पर इच्छा की वस्तु बाहर है। चाह है पर दुराव भी है। जो नहीं है वही है। जो है वह नहीं है। (अचानक) प्रियवंदक ! सारंग !

[दोनों दौड़े आते हैं।]

दोनों : आज्ञा गुरुदेव !

चाणक्य : कौन है गुरु ? कहां है वह गुरु मुझमें ? मैं चाणक्य हूं। नागरिक सभा में मेरे चारों ओर आज विशेष ध्यान रखना। राक्षस के गुप्तचरों का जाल फैला है। मेरी सुरक्षा की जिम्मेदारी तुम्हीं पर है।

[चाणक्य तेजी से जाता है। दोनों पीछा करते हैं।]

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान : पाटलीपुत्र

समय : संध्या।

[राजपथ पर नगर के लोग इकट्ठे हो रहे हैं। एक ओर राक्षस और दूसरी ओर चाणक्य के लोग।]

चाणक्य : (आते ही) देवियो और सज्जनो। दुख यही है स्वर्गीय महापद्मनंद के महामंत्री राक्षस···

सिद्धार्थक : (बीच ही में) हुअं, स्वर्गीय महापद्मनंद! उसे विष देकर खुद मारा और उल्टे अब उसे स्वर्ग भेज रहे हैं।

['चुप रहो', 'बैठ जाओ' लोग कहते हैं।]

चाणक्य : ठीक है, हम यहां परस्पर विचार करने बैठे हैं। सब निर्भय हो अपने विचार प्रकट करें। हमारे एक अत्यन्त विश्वासी देशभक्त आमात्य राक्षस ने हमें धोखा दिया। हमें इनसे कभी ऐसी आशा न थी। कृपया ध्यान दें, मैं प्रारम्भ से ही सारी बातें आप सबके सामने रख देना चाहता हूं। पहली बात—इतने सुदूरवासी पर्वतक को यहां बुलाकर उसकी सहायता से मगध का राज्य हड़पने जैसा कुचक्र इस देशभक्त ने किया।

सिद्धार्थक : यह सरासर झूठ है। पर्वतक को यहां आधा राज्य देने का झूठा वादा कर और नंद विनाश में उसकी सहायता ले, फिर विष-कन्या द्वारा उसकी हत्या करने का कुचक्र तुमने किया, ताकि उसे आधा राज्य न देना पड़े।

एक नागरिक : यह जवाब राक्षस ने क्यों नहीं दिया ?

दूसरा नागरिक : क्योंकि यह सच नहीं है।

राक्षस : आमात्य चाणक्य, आप आगे कहिए।

चाणक्य : धन्यवाद! दूसरी बात जिस समय नंद के साथ हमारा युद्ध चल रहा था, उस समय आमात्य राक्षस कहां थे ? आमात्य राक्षस उस समय अपनी गुप्त सेना के साथ गंगा के उस तट पर

इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे कि नंद जब राक्षस को अपना राज्य उत्तराधिकारी घोषित कर दे, तब यह उसकी सहायता के लिए आयें। इस तरह आमात्य राक्षस ने अपने राजा नंद के प्रति विश्वासघात किया।

राक्षस : यह झूठ है! सरासर झूठ! मैं पर्वतक के आक्रमण को रोकने के लिए गंगा-तट पर युद्धरत था।

तीसरा नागरिक : आचार्य चाणक्य को बोलने दिया जाय।

चाणक्य : यदि यह झूठ है तो हम एक बात और पूछेंगे कि महाराज नंद द्वारा संकट उपस्थित होने की सूचना मिलने पर और परामर्शार्थ बुलाने पर राक्षस उनके पास क्यों नहीं गया? उसकी चाल तो देखिए कि केवल शत्रु पर्वतक के आक्रमण को रोकने के लिए रक्षा-क्षेत्र का बहाना कर उसने महाराज नंद के पास जाना अस्वीकार किया। बाद में जब राक्षस को पता चला कि मगध की जनता में इस षड्यंत्र का भंडाफोड़ हो चुका है, और चंद्रगुप्त ने सेना का आधिपत्य अपने हाथ में लेकर पर्वतक के दांत खट्टे करने के लिए कूच कर दिया है तब राक्षस को डर हुआ कि लौटकर चंद्रगुप्त उसे कहीं बंदी न कर ले। इसलिए राक्षस मगध की सीमा से ही भाग खड़ा हुआ।

सिद्धार्थक : यह सब मनगढ़न्त बातें हैं। सारा कुचक्र चाणक्य

का है। राक्षस देशभक्त है। राक्षस पर ऐसा लांछन लगाना अपराध है।

[क्रोधित लोग सिद्धार्थक पर टूट पड़ते हैं। चाणक्य उसे बचाता है।]

चाणक्य : आप लोग दंड का अधिकार अपने हाथ न लें। यह भी राज्य का नागरिक है। इसे भी मत व्यक्त करने का अधिकार है।

[लोग सिद्धार्थक को छोड़ देते हैं। शकटदास अलग सिद्धार्थक को अपने अंक से लगा लेता है।]

चाणक्य : (अपने चारों ओर घिरी जनता से) बंधुओ! अब आपको अपने भविष्य पर विचार करना है। बहुत दिनों तक नंद के अत्याचारी शासन से पिसते रहने के बाद आज आपने मुक्ति पायी है। यद्यपि राक्षस ने स्वार्थवश ही नंद-वंश का विनाश कर घोर अपराध किया, तब भी हम इतना कहेंगे कि इस बहाने आपको एक घोर संकट से छुटकारा मिला है। यदि इस कार्य में राक्षस की निःस्वार्थता और जनता को अत्याचार एवं कठोर दमन से बचाने की पवित्र भावना होती तो हम राक्षस को अपराधी न कहते। पर उसने यह सब किया अपने लिये, स्वयं मगध के सिंहासन पर बैठने के लिए। इसलिए अब आपको किसी योग्य शासक के हाथ में देश की राजसत्ता की बागडोर देनी है। मैंने

स्वयं इस विषय पर विचार कर जो कुछ निश्चय किया है, उसके अनुसार कुमार चंद्रगुप्त के अलावा इस पद के योग्य अन्य कोई नहीं ठहरता। [जनता 'महाराजा चंद्रगुप्त की जै', 'चाणक्य की जै' की हर्ष-ध्वनि करती हुई चली जाती है। दृश्य में केवल राक्षस, सिद्धार्थक, शकटदास रह जाते हैं।]

राक्षस : मैं चंद्रगुप्त और धूर्त चाणक्य से अपने स्वामी नंद के वध का प्रतिशोध लेने का संकल्प लेता हूं।

सिद्धार्थक : स्वामी, मैं पूरी तरह से आपके साथ हूं। पर सुना है, इस बीच आप पांचाल नरेश के महामात्य हो चुके हैं।

राक्षस : हां, यह पद मैंने इसीलिए स्वीकार किया है कि अपनी शक्ति का वही बदला लेने के लिए इस्तेमाल कर सकूं।

[राक्षस बैठकर एक पत्र लिखने लगता है।]

सिद्धार्थक : (अलग दर्शकों से) राक्षस षड्यंत्र रच रहा है। जिसके अनुसार एक विष-कन्या भेजकर चंद्रगुप्त को मार डालने का उपाय कर रहा है। यह सोच रहा है कि चंद्रगुप्त अभी अविवाहित है और राजा हो जाने पर उसे अब स्त्री का अभाव खटकता होगा। अतः वह किसी परम सुन्दरी को

ग्रहण कर लेगा, मलय नरेश के नाम से एक जाली पत्र तैयार कर रहा है···।

राक्षस : लो यह पत्र।

सिद्धार्थक : (पत्र पढ़ता है) प्रियवर मगध नरेश चंद्रगुप्त! आपके सिंहासनारूढ़ होने के सुखद समाचार से मैं और मेरी प्रजा अत्यन्त हर्षित हैं। समय पर सूचना प्राप्त न होने से मैं उस शुभ अवसर पर स्वयं उपस्थित न हो सका। किन्तु अब अपने राज्य की ओर से उपहारस्वरूप अपनी यह सुन्दर कन्या आपकी सेवा में भेज रहा हूं। विश्वास है, आप इसे स्वीकार करेंगे। आपका शुभेच्छु, मलय नरेश—सिंहनाद।

दूसरा दृश्य

[वाद्य-यंत्र बजते हैं। पृष्ठभूमि में चंद्रगुप्त के राज्याभिषेक का ध्वनि प्रभाव और उत्सव सूचक संगीत]

प्रियंवदक : महाराजा चंद्रगुप्त के सिंहासनारूढ़ होने की शोभा-यात्रा बढ़ रही है।

सारंग : ज्यों-ज्यों संध्या निकट आती जा रही है, पाटलीपुत्र के नर-नारी, बाल-वृद्ध, युवक-युवतियां राजमार्ग की पहरियों और अटारियों पर एकत्र जै-जै गान कर रहे हैं।

प्रियंवदक : मगध के इतिहास में ऐसी सुन्दर शोभा-यात्रा कभी न निकली थी।

सारंग : चंद्रगुप्त एक विशाल मदमत्त हाथी पर विराजमान है। सबसे आगे, मध्य और पीछे तीन प्रकार के सुन्दर वाद्य-वादकों और नर्तक-नर्तकियों की सजी हुई टोलियां हैं।

प्रियंवदक : अभिनय, नर्तन, गायन से सारा वातावरण भर गया है।

सारंग : इतनी विशाल, विराट शोभा-यात्रा में चाणक्य स्वयं सम्मिलित नहीं हैं।

प्रियंवदक : चाणक्य ने चंद्रगुप्त की रक्षा और जनता की भावना जानने के लिए भीड़ में अपने गुप्तचरों के अनेक दलों का प्रवेश कर रखा है।

सारंग : हम दोनों भी उसी गुप्तचर दल में हैं।

प्रियंवदक : आप सब सावधान रहिए।

[दोनों तेजी से जाते हैं। पृष्ठभूमि का संगीत धीरे-धीरे दूर चला जाता है। कुछ नागरिक आते हैं।]

पहला ना० : (बेतरह हँसता हुआ) कमाल है! चाणक्य भी खूब है! सुना है राक्षस ने जो विष-कन्या भेजी थी चंद्रगुप्त को मारने के लिए उसे उल्टे पांचाल नरेश के पास उपहार के तौर पर भेजकर उस बेचारे की जान ले ली। पहले पर्वतक की इसी तरह जान ली। अब उसके ज्येष्ठ पुत्र की।

दूसरा ना० : महामात्य राक्षस बड़ा द्रोही है। जहां इसके पैर पड़ेंगे वहीं सत्यानाश होगा।

तीसरा ना० : अब तो यह पांचाल के मंत्री-पद से भी निकाल बाहर किया जायेगा।

पहला ना० : जीवन भर मगध का महामात्य रहकर, यहीं का अन्न खाकर अपने स्वामी नंद की हत्या करा डाली और अब पांचाल में पहुंचकर वहां भी···।

[हँसता है।]

चौथा ना० : ऐसी बात नहीं। यह सब उसी चाणक्य का कुचक्र है। राक्षस अत्यन्त नीति-कुशल व्यक्ति है।

दूसरा ना० : हां यह बात तो है। चंद्रगुप्त कभी उसका परम प्रिय रहा है। यह सारा चक्कर इसी कुटिल ब्राह्मण का चलाया हुआ है।

तीसरा ना० : पर ब्राह्मण महान है—वह चाहता है यदि किसी तरह राक्षस चंद्रगुप्त का सहयोगी हो जाय तो मगध में स्वर्ग उतर आये।

दूसरा ना० : मगध नहीं, अब भारत देश कहो।

चौथा ना० : राक्षस के जीवन-भर के किसी कार्य से देशद्रोह की गंध तक नहीं मिलती।

तीसरा ना० : तभी तो मैंने अपने कानों चाणक्य को यह कहते हुए सुना है कि यद्यपि राक्षस, नंद-कुल का परम विद्वेषी था, फिर भी वह चंद्रगुप्त और मगध देश का महान हितैषी है।

चौथा ना० : निश्चय ही नंद-कुल के विनाश में उसने देशहित का ही ध्यान रखा होगा।

[सहसा मदारी का रूप बदलकर डमरू बजाता हुआ प्रियबंदक आता है। पीछे-पीछे जमूरा का रूप बदले सारंग]

पहला ना० : सावधान! ये दोनों गुप्तचर लगते हैं।

दूसरा ना० : किसके? राक्षस के या चाणक्य के?

तीसरा ना० : यह पता लगाना असम्भव है।

चौथा ना० : नहीं, नहीं, ये गुप्तचर नहीं हैं। सारे गुप्तचर तो शोभा-यात्रा में लगे हैं।

पहला ना० : कोई छिटककर इधर आ गया हो!

[सब देखने लगते हैं।]

मदारी : (बांसुरी बजाता हुआ) हां तो जमूरे, गांठ के पूरे, धतूरे, रसचूरे!

जमूरा : (डमरू बजाता हुआ) हां रे मंदारी, मति दे गारी, मेरी दुनियां है न्यारी!

मदारी : क्या है तेरी दुनियां?

जमूरा : हम फुर्र से उड़ि जायेंगा, आसमान्न से तारें तोंड़ि लाइंयेगा। सारी जनतां कों कहों तो मंगता बनायं दूं, कहों तों आसमानी सुरग में चढ़ाइं दूं। गिराइं दूं··· उठाइं दूं··· सुलाइं दूं··· नचाई दूं··· रुलाइं दूं··· हँसाइं दूं। जो कोई कुच्छ पुच्छे तो झट्ट बताइं दूं!

पहला ना० : पूछो पूछो!

दूसरा ना० : पता भी लग जायेगा कि ये कौन हैं—असली की नकली।

तीसरा ना० : कोई राजनीतिक बात मत पूछना।

पहला ना० : देखिए जी, मेरी शादी कब होगी?

[एक तेज डमरू बजाता है, दूसरा बांसुरी]

मदारी : सुन भाई जमूरे! इन्होंने क्या पूंच्छा?

जमूरा : इन्नोने पूंच्छा कि सित्तारों का कहां है गुंच्छा। यह आदमी शकल से लगता है लुच्चा!

मदारी : अच्छा!

जमूरा : इसके हैं तीन बच्चां। इसकी पहली औरत गयी है मर्र, यह अब दौड़ना चाहता हेंइ सरासर्र ! तीन से ज्यादां अगर होंगे बच्चें तो परिवार नियोजन के नाम पर चाणक्य इसे खा लेंगा कच्चे··· ।

पहला ना० : असली है असली !

दूसरा ना० : अब निडर हो जायं ?

तीसरा ना० : हां अब राजनीति पूछो !

चौथा ना० : क्यों भाई, पर्वतक के छोटे पुत्र मलयकेतु के पास चाणक्य ने अब अपने सेनापति भागुरायण को क्यों भेजा ?

मदारी : जमूरे ।

जमूरा : दूरैं दूरैं··· यहां से निकलि चलौ जमूरे··· । [अजब ढंग से न जाने क्या-क्या आवाजें निकाल रहा है। मदारी डमरू बजाता हुआ उसके साथ जाता है।]

पहला ना० : देखो राजनीति की बात पूछते ही दुम दबाकर खिसके ।

दूसरा ना० : बेचारों को कुछ दिया भी नहीं ।

तीसरा ना० : मुझे तो लगता है चाणक्य के गुप्तचर थे ।

पहला ना० : तुम्हें राजनीति के विषय में प्रश्न नहीं पूछना था। तभी तो मैंने शुद्ध पारिवारिक प्रश्न पूछा ।

दूसरा ना० : हम सब अलग-अलग रास्तों से निकल जायं ।

चौथा ना० : भटक जायं—हर राजा की यही राजनीति है ।

[सब अलग-अलग होकर जाते हैं। प्रियंवदक और सारंग आते हैं।]

प्रियंवदक : चाणक्य ने सोचा कि पर्वतक के पुत्र मलयकेतु को भी रास्ते से हटाये बिना काम नहीं चलेगा ।

सारंग : क्योंकि यदि मलयकेतु रहेगा तो अपने पिता से हुई बातों के अनुसार मगध का आधा राज्य मांगेगा ।

प्रियंवदक : इसीलिए चाणक्य ने मगध सेनापति भागुरायण को मलयकेतु के पास भेजा ।

सारंग : मलयकेतु का भागुरायण से परिचय नहीं था । वह मलयकेतु को उल्टी-सीधी पढ़ाकर···

[भागुरायण और मलयकेतु दीखते हैं।]

भागुरायण : देखिए कुमार ! चाणक्य जैसा धूर्त, आपको मगध का आधा राज्य दे देगा, यह त्रिकाल में भी संभव नहीं। वह तो आपका पांचाल राज्य भी हड़प लेने के कुचक्र में है। आपके पिता, बड़े भाई की हत्या कर उसने आधा रास्ता तो तै ही कर लिया है।

मलयकेतु : ओह ! मेरे पिता और भाई की हत्या चाणक्य ने की ! मैं तो सोचता था—ये कुकर्म राक्षस के हैं। ओह ! फिर चाणक्य ने मुझे मगध क्यों बुलाया ?

भागुरायण : विश्वासघात के लिए ।

मलयकेतु : अब मुझे फौरन यहां से भागना होगा ।

भागुरायण : पर इस समय मगध से भाग निकलने में भी संकट है मित्र। पाटलीपुत्र के चारों ओर सैनिकों का पहरा, और नगर में सब जगह गुप्तचरों की भरमार है।

मलयकेतु : मेरी मदद करो मित्र ! मैं आजीवन तुम्हारा ऋणी रहूंगा।

भागुरायण : उसका प्रबन्ध मैं करता हूं।

मलयकेतु : हे नरश्रेष्ठ, आप हैं कौन ?

प्रियंवदक : (दर्शकों से) देखो एक धूर्त आदमी कैसे नरश्रेष्ठ हो जाता है।

सारंग : मीठी-मीठी बोल के तीखी-तीखी चाल !

भागुरायण : मैं भी मगध सेना का छोटा-सा अधिकारी हूं। किन्तु राक्षस का दोस्त होने के कारण चंद्रगुप्त और चाणक्य मुझसे खार खाते हैं। फिर भी, चलिए मैं आपको बिना किसी रोकटोक के नगर के बाहर पहुंचा दूंगा।

[दोनों लुकते-छिपते भागते हैं।]

प्रियंवदक : चंद्रगुप्त को मारने के लिए राक्षस ने अनेक उपाय किये। पर चाणक्य बार-बार उसे हरा देता है।

सारंग : हारकर राक्षस मगध से भाग निकला।

प्रियंवदक : चाणक्य ने पता लगा लिया कि राक्षस के कुसुमपुर में दो परम मित्र हैं !

सारंग : एक सेठ चंदनदास जौहरी, जिसके यहां राक्षस

का परिवार छिपा है और दूसरा शकटदास कायस्थ। अपने गुप्तचर सिद्धार्थक को बुलाकर चाणक्य ने कहा कि अपने विश्वासी मित्र शकटदास के हाथ से लिखाकर एक पत्र मुझे ला दो।

प्रियंवदक : और अपने दूसरे गुप्तचर जीवसिद्धि से कहा कि तुम किसी तरह कहीं से महामात्य राक्षस की मुहर या कोई मुद्रा लाकर दो।

सारंग : दोनों गुप्तचर अपने-अपने काम पर लग गये।

प्रियंवदक : पर इस बीच चाणक्य के जीवन में एक अभूतपूर्व घटना घटी। आश्चर्यजनक···

सारंग : राजकुमार माहालि और उसकी सुंदरी सिधुतरी ने चाणक्य की रहस्य-प्रिया सुवासिनी को अपनी रहस्य भरी बातों में उलझाकर··· ।

तीसरा दृश्य

स्थान : चाणक्य का निवास-स्थान

समय : रात का दूसरा पहर

[माहालि, सिंधुतरी के साथ सुवासिनी]

माहालि : मैंने तरह-तरह के लोगों की बातें सुनी थीं, पर रहस्य-प्रिया की बातें आज ही सुनीं।

सुवासिनी : यह रहस्य-प्रिया शब्द कहां से किसके मुंह से सुना ?

माहालि : एक बहुत बड़े कोरे कागज पर यह लिखा हुआ पढ़ा। केवल यही एक शब्द—रहस्य-प्रिया।

सिंधुतरी : आप क्या सोचने लगीं ?

माहालि : आप तो जैसे कहीं डूब गयीं।

सिंधुतरी : आइए चलते रहिए।

[तीनों चलते हैं।]

सिंधुतरी : कितनी सुहानी रात है !

माहालि : कैसी शांति है !

सिंधुतरी : जब तक कोई प्रकट नहीं हो पाता, सब शांत लगता है !

सुवासिनी : यहां हर काम और व्यवहार के पीछे उसी अशांति का हाथ है।

माहालि : आप कितनी बड़ी नर्तकी हैं।

सिंधुतरी : कितना सम्मोहन है आपके संगीत में।

सुवासिनी : आज की यह रात नवजात अरुण शिशु की तरह है। उसके पालने के पास ये असंख्य तारे चुपचाप निश्चल खड़े हैं। शिशु की नींद कहीं खुल न जाय। दूर जैसे कोई रो-रोकर गा रहा है। वहीं पहुंचकर जीवन शेष होना चाहता है।

माहालि : देवि, तनिक यहां बैठकर विश्राम करें।

[सुवासिनी बैठती है।]

सिंधुतरी : मैं अभी आयी।

[जाती है।]

माहालि : मैं एक क्षण का भी विरह नहीं सह पाता।

[जाता है।]

सुवासिनी : (गाती है।)

आशा है नहीं तो भी रखती हूं
प्राण है नहीं तो भी जीती हूं
मुझे ऐसा मिला एक जोगी
प्रेम को झूठा कहे लोभी
दावानल में मीन जल पीती हूं
प्राण है नहीं तो भी जीती हूं

[चाणक्य आकर जैसे मंत्रमुग्ध रह गया है।]

आशा है नहीं तो भी रखती हूं
प्राण है नहीं तो भी जीती हूं।

चाणक्य : सुवासिनी ! मेरी रहस्य-प्रिया !

सुवासिनी : कौन ? (उठ खड़ी होती है) आह !

चाणक्य : किस दीवार से अपना सिर टकराऊं। वसंत गुफा से निकली हुई यह संगीत लहरी मेरे अंतस की किस रहस्य गुफा में चली गयी।

सुवासिनी : डोर खींचकर तू कहां चला गया ?

चाणक्य : मेरे कोमल हृदय आकाश में नक्षत्र की तरह उदित हो कहां छिप गयी ?

सुवासिनी : आशा-निराशा की डोर तो तेरे हाथ में थी। और तू राजनीति के चक्र में डूब गया।

चाणक्य : मेरी प्रिया !

सुवासिनी : इतना भय क्यों ?

चाणक्य : इतनी प्रतिक्रिया क्यों ?

सुवासिनी : विष्णुगुप्त ! देखो मैं कैसी हूं ? बोलो होश में हो ?

चाणक्य : होश में होता, तो क्या तुम्हें देखे विना रह सकता था !

[वह मूर्छित होने लगती है। चाणक्य दौड़कर उसे अपनी वांहों में भर लेता है।]

चाणक्य : अव मेरा यह अभिज्ञान पूर्ण हो गया ! मूर्छित सुवासिनी ! तेरा हृदय तुझे जिस मार्ग पर ले गया, वही सत्य है। सत्य न पवित्र होता है न अपवित्र। जैसे परमात्मा के साथ एकाकार हुआ जीव पुनः

द्वैत ग्रहण नहीं करता, वैसे ही एक वार प्रेम-यज्ञ में लीन हुआ हृदय द्वैत का अनुभव नहीं करता। जिस प्रेम-यज्ञ में तुम्हारे साथ संलग्न हूं, वह मुझमें भी जगा रहा है। मूर्छा से जागो प्रिये, जिस मुख को देखने और मुग्ध होने का अधिकार तव वहां नहीं था, पर जिसे देखे विना न रहा गया, उसे आज देखा। देख रहा हूं और देखता रहूंगा।

[सुवासिनी सचेत होती है। दोनों अपलक परस्पर देखने लगते हैं।]

चाणक्य : तुम केवल तुम हो !

सुवासिनी : तुम केवल तुम हो !

चाणक्य : मेरी प्रिया !

[सुवासिनी आनंदमग्न नर्तन करने लगती है। वह कभी चाणक्य के पास आती है। कभी दूर हट जाती है। कभी राग अभिनय, कभी मान अभिनय। चाणक्य उसे अपनी वाहों में भर लेने को होता है। पर वह दूर हो जाती है। चाणक्य में तरह-तरह के भाव पैदा होते हैं। एक विन्दु पर आकर वह चाणक्य के अंक में समा जाती है। पृथ्वी पर दोनों एक-दूसरे के अंक में जैसे एक हो गये हैं। कुछ लोग आते हैं और क्रुद्ध शोर मचाते हैं—'दुश्चरित्र, नराधम, पाखंडी, चरित्रहीन' ! पत्थर फेंककर मारते हैं। चाणक्य उठता है।]

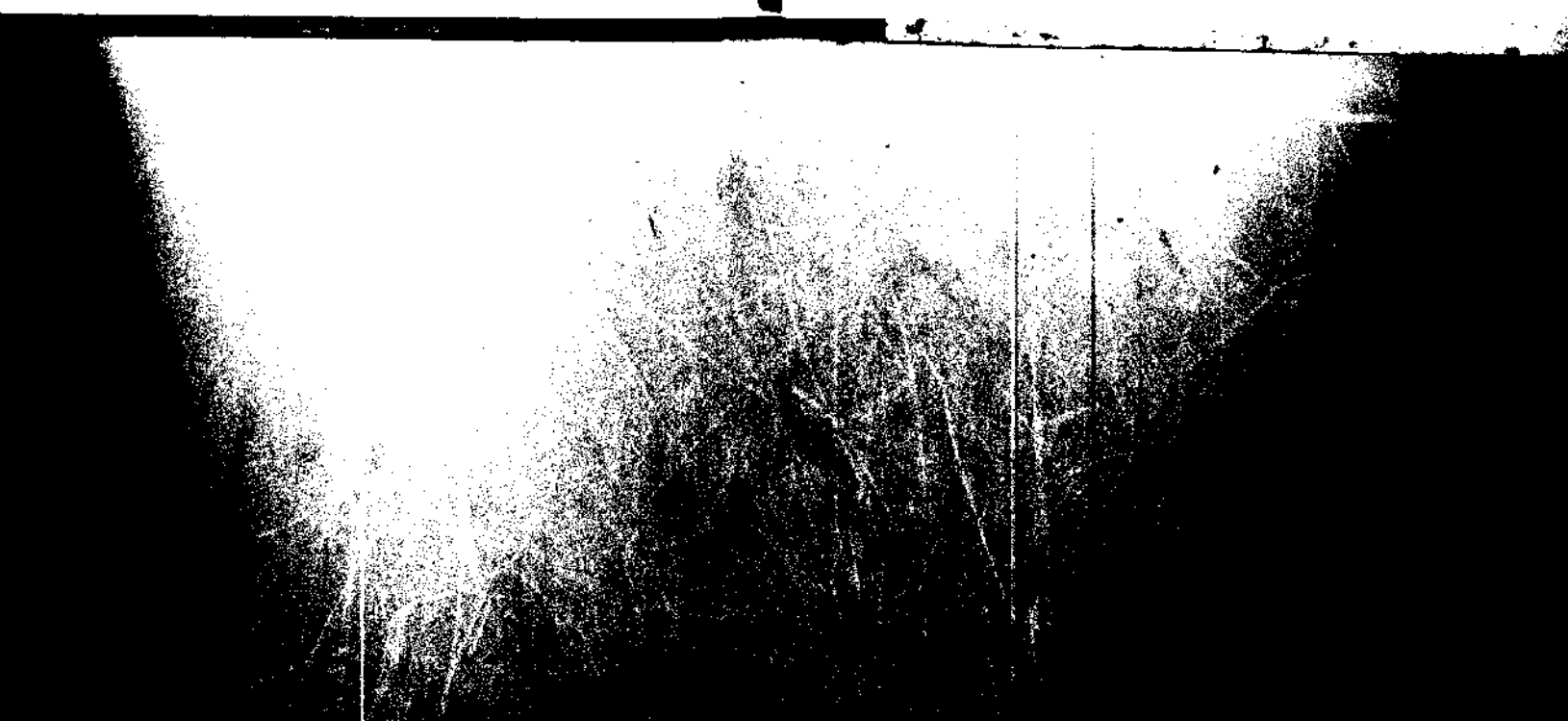

चाणक्य : मारो । और मारो । जो कुछ कहना हो कहो । डरते क्यों हो ?

[वही अपशब्द भरा शोर । वही पत्थर का प्रहार]

चाणक्य : तुम लोग मुझे नहीं, अपने आपको ही मार रहे हो।

एक : दुश्चरित्र ! पाखंडी !

दूसरा : बगुला-भगत है !

तीसरा : रँगा-सियार !

[वही आक्रमण । दूसरी ओर से प्रियवंदक, सारंग और दो व्यक्ति आते हैं। दोनों दलों में संघर्ष होता है। पहला दल एक किनारे चुप खड़ा रह जाता है ।]

प्रियंवदक : सुवासिनी दुष्ट राक्षस की गुप्तचर है ।

सारंग : हो सकता है यह विष-कन्या हो ।

प्रियंवदक : आर्यश्रेष्ठ, यह कुचक्र है दुश्मन का है ।

चाणक्य : कल्याण हो ! कहने भर को दो अलग-अलग दल हैं। पर देखने पर दोनों समान। उस दल का क्रोध मुझ पर है। तुम्हारा क्रोध इस पर है। मैं इसका हूं। यह मेरी है। वे इसके हैं। तुम मेरे हो। सिद्ध क्या हुआ ?

[सन्नाटा छा जाता है ।]

चाणक्य : सब एक हैं। यह सारा दृश्यमान जगत। पर यह पहचान केवल कर्म और भोग से होता है। भोग से कुछ पूर्व-संस्कार कट जाते हैं, किन्तु

उसके अभिमान से नये संस्कार भी पैदा होते हैं। सब कुछ भोगना है। भोगकर ही समाप्त करना है ।

[माहालि और सिंधुतरी आते हैं ।]

माहालि : गुरुजी, क्षमा हो !

चाणक्य : कृतज्ञ हूं ! गुरुदक्षिणा से तुम मुक्त हुए ।

सिंधुतरी : आर्यश्रेष्ठ ! आप कितने आश्चर्यजनक हैं !

चाणक्य : सब कुछ आश्चर्यजनक है ! तनिक देखो तो ! देखो··· देखो··· देखो··· देखो··· ।

[वहां उपस्थित सबको दिखाता है।]

चाणक्य : देखना ही मुक्ति है !

सिंधुतरी : देखना ?

सुवासिनी : आर्य ! आपने देख लिया ?

चाणक्य : अभी शेष है ।

सुवासिनी : क्या ?

चाणक्य : प्रिये ! तुम प्रश्न मत करो ।

सुवासिनी : आपको लोग अब क्या कहेंगे ।

चाणक्य : प्रश्न है—मैं अपने आपको क्या कहूंगा ।

[पहले दल के लोग चले जाते हैं ।]

चाणक्य : सिंधुतरी ! तुम सुवासिनी को अपने साथ रखोगी ! ···माहालि ! तुम्हें तत्काल पांचाल जाना होगा । चंद्रगुप्त प्रिया कार्नेलिया को ब्रह्मसूत्र और बुद्ध की करुणा क्या है, इसे बताओगे ।

माहालि : जो आज्ञा ! पर मैं अपनी प्रिया का विरह कैसे सह पाऊंगा ।

[लोग हँसते हैं ।]

माहालि : गुरुजी ये लोग हँसते क्यों हैं ?

सुवासिनी : इन्हें पता नहीं है !

[विराम]

चाणक्य : वहां जाकर देखो, विरह क्या है ?

माहालि : देखा है ।

चाणक्य : देखा नहीं, केवल सोचा है ।

माहालि : सोचा नहीं भोगा है ।

चाणक्य : बुद्धि से भोग नहीं होता । जाओ ।

माहालि : गुरुजी, एक क्षण !

[माहालि अपनी सिंधुतरी को अलग ले जाता है ।]

प्रियंवदक : हुअं ! यह ब्रह्मसूत्र पढ़ायेगा ।

सारंग : बुद्ध की करुणा के नाम पर वहां रोयेगा ।

प्रियंवदक : दिन-रात आहें भरेगा ।

सारंग : विरह के संदेश भेजने में लगा रहेगा ।

प्रियंवदक : गुरुजी ने अच्छा किया ।

सारंग : इन दोनों को किसी काम पर तो लगाया ।

[माहालि अपनी प्रिया को बाहों में भर रो पड़ता है ।]

चौथा दृश्य

[चाणक्य के सामने प्रियंवदक और सारंग]

प्रियंवदक : हमने पाया—जनता में राजनीतिक चेतना है ।

सारंग : सब छिपकर बातें करते हैं ।

प्रियंवदक : भागुरायण ने मलयकेतु को मगध से बाहर कर दिया है ।

सारंग : राक्षस पांचाल क्षेत्र में बैठकर कुचक्र रच रहा है ।

[सिद्धार्थक आता है ।]

सिद्धार्थक : प्रणाम गुरुवर !

चाणक्य : कहो मल्ल राजकुमार बंधुल ।

सिद्धार्थक : अब मल्ल राजकुमार बंधुल नहीं, आर्यावर्त का एक सैनिक—सिद्धार्थक ! यह लीजिए शटकदास के हाथ का लिखा हुआ पत्र ।

[चाणक्य खोलकर पढ़ता है ।]

चाणक्य : जीवसिद्धि अब तक मुहर लेकर नहीं आया ।

[पृष्ठभूमि से बीन बजाता हुआ कोई सपेरे के भेष में आता है ।]

प्रियंवदक : आ गया जीवसिद्धि ।

[बीन बजाता हुआ आता है ।]

चाणक्य : कहो मालवकुमार सिंहरण।

जीवसिद्धि : केवल जीवसिद्धि, महाराज। यह रही राक्षस की मुद्रा।

चाणक्य : (लेकर) यह बताओ, यह प्राप्त कैसे हुआ ?

जीवसिद्धि : मत पूछिए। सपेरे का यही भेष बनाकर खेल दिखाता हुआ पहुंचा सेठ चंदनदास के घर पर। सांपों को देख परिवार की स्त्रियां पर्दे की ओट में छिप गयीं। किन्तु बालकों का स्वभाव आप जानते ही हैं, बड़ा चंचल होता है। सो राक्षस का लड़का खेल देखने मेरे पास आ गया। बेचारी उसकी मां बहुत घबरायी। मैं लड़के पर कोई जादू-टोना न कर दूं, इस भय से लड़के की मां पर्दे से निकली और लड़के को खींचकर भीतर ले गयी। स्त्री की उंगली पुरुष की उंगली से स्वभावतः पतली होती है। उसी खींचतान में बालक की मां की उंगली से यह अंगूठी गिर पड़ी। मेरा कार्य सिद्ध हो गया।

चाणक्य : तभी तो तुम्हारा नाम जीवसिद्धि है।

[चाणक्य उस अंगूठी से पत्र पर मुहर लगा देता है।]

चाणक्य : राक्षस के मित्र हो जाने के नाते शकटदास को फांसी पर लटका देने की मैंने आज्ञा दे रखी है। क्योंकि उसने महाराज चंद्रगुप्त के वध का षड्यंत्र

करने वाले दारुवर्मा नामक बढ़ई की सहायता की। पर मैं वास्तव में शकटदास को मारना नहीं चाहता। इसलिए फांसी देने वालों को चुपचाप समझा दिया है कि यदि फांसी देते समय कोई व्यक्ति हाथ में यह चिट्ठी लिये वहां आकर उन्हें आंख से संकेत करे तो वे अपराधी को छोड़ वहां से भाग निकलें।

[सिद्धार्थक पत्र लेकर तेजी से जाता है।]

चाणक्य : जीवसिद्धि ! तुम यह आभूषण लेकर मलयकेतु के राज्य में जाओ और इसे राक्षस को भेंट करो। याद रहे ये आभूषण दिवंगत पर्वतक के हैं।

जीवसिद्धि : सब समझ गया।

[जाता है। चाणक्य भी जाता है।]

प्रियंवदक : (दर्शकों से) सिद्धार्थक ने अपना काम किया। फांसी से शकटदास को बचाकर उसने कहा—मित्र ! अब इस चाणक्य और चंद्रगुप्त के राज्य में रहना असम्भव है। इसलिए चलो भाग चलें आमात्य राक्षस के पास।

सारंग : राक्षस को अपना बनाने के लिए चाणक्य को सबसे अधिक आवश्यकता थी मलयकेतु और राक्षस में वैर हो जाय। इसीलिए गुप्तचर जीवसिद्धि पर्वतक के आभूषण और मुहर लगा वह जाली पत्र लेकर गया है।

प्रियंवदक : पर चाणक्य के लिए इतना ही काफी नहीं था। मलयकेतु से राक्षस को अलग करके चंद्रगुप्त से जोड़ना उसका परम लक्ष्य था।

सारंग : इसके लिए चाणक्य और चंद्रगुप्त में खटपट हो जाना आवश्यक लगा गुरुदेव को।

[दृश्य बदलता है। अपने राज-कक्ष में चंद्रगुप्त अपने मंत्रियों और प्रतिहारी आदि के साथ दीखता है। चाणक्य आता है।]

चंद्रगुप्त : आर्य, प्रणाम !

चाणक्य : कल्याण हो आयुष्मान, आज तुम्हारा प्रणाम कुछ भारी है।

चंद्रगुप्त : मैं जानना चाहता हूं, मेरी वृद्ध मां को किसने वानप्रस्थाश्रम भेजा ?

चाणक्य : मैंने। अब उन्हें आवश्यकता थी शांति की।

चंद्रगुप्त : ओह ! आप मेरे व्यक्तिगत जीवन में भी हस्तक्षेप करने लगे।

चाणक्य : यहां कोई कुछ व्यक्तिगत नहीं है।

चंद्रगुप्त : राज्याज्ञा अनुसार शरद् पूर्णिमा के दिन नगर में चन्द्रिकोत्सव मनाने का निश्चय किया गया था।

एक मंत्री : महाराज चंद्रगुप्त के राज्यारूढ़ होने के बाद इस वर्ष शरद् पूर्णिमा को धूमधाम से चन्द्रिकोत्सव होना आवश्यक था।

चंद्रगुप्त : उसकी सारी तैयारी हो चुकी थी। सारी प्रजा आनंद और उल्लास से चन्द्रिकोत्सव···।

चाणक्य : बचपन की चन्द्रिकोत्सव की तुम्हारी वह स्मृति अभी गयी नहीं ?

चंद्रगुप्त : मैं अब वह बालक नहीं।

चाणक्य : वही कटु स्मृति तुम्हारे अचेतन जगत में बैठी हुई है। देखो उसे और मुक्त हो जाओ।

चंद्रगुप्त : आर्य चाणक्य, आप अपनी मर्यादा से बाहर जा रहे हैं।

चाणक्य : मैं स्वयं हूं अपनी मर्यादा। चाहता हूं तुम स्वयं अपनी मर्यादा को प्राप्त हो।

चंद्रगुप्त : मैं आपके उपदेशों से ऊब गया हूं।

चाणक्य : तभी मैंने अध्यादेश निकालकर चन्द्रिकोत्सव मनाने पर प्रतिबंध लगा दिया। आदेश में कहा, जब तक देश में राजद्रोहों का पूरी तरह विनाश नहीं होता, शत्रुओं के आक्रमण से निरापद नहीं हो जाते, चन्द्रिकोत्सव नहीं, कोई भी सार्वजनिक समारोह मनाना उचित नहीं।

चंद्रगुप्त : मेरे अधिकार की अवहेलना, राज्याज्ञा का तिरस्कार, असह्य !

चाणक्य : ठीक है। तुम सम्राट हो, यदि तुम राज्य का प्रबंध स्वयं कर सकते हो तो कर लो, मैं जा रहा हूं।

चंद्रगुप्त : एवमस्तु। आज से मैंने सब कार्य स्वयं संभाल लिया।

चाणक्य : मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूं। खड्ग युद्ध में पराजित सिकंदर को उस तरह जाने क्यों दिया ?

चंद्रगुप्त : मैं वीर हूं हत्यारा नहीं।

चाणक्य : यह बहुत पुराना उत्तर है। असली उत्तर देने से तुम भयभीत हो। तुम्हें स्पष्ट स्वीकार करना चाहिए--तुम्हें कार्नेलिया से प्रेम है।

चंद्रगुप्त : आज मैं भी एक प्रश्न पूछूं ? राक्षस इसी नगर में कई दिनों तक आपकी जानकारी में छिपा रहा। उसे क्यों नहीं बंदी किया गया ?

चाणक्य : राक्षस जैसे महान पुरुष की नीति से राष्ट्र-सेवा लेना मेरा लक्ष्य है।

चंद्रगुप्त : तो राक्षस आपसे बड़ा है ?

चाणक्य : मेरे लिये न कोई बड़ा है, न छोटा। मेरे लिये सबसे बड़ा परिवेश है। परिवेश के भीतर से ही रचना होती है।

[चाणक्य चला जाता है।]

चंद्रगुप्त : अहंकारी ब्राह्मण !

[चंद्रगुप्त जाता है। सब परस्पर बातें करने लगते हैं।]

पहला : गुरु-शिष्य में ऐसी बातें कभी नहीं सुनीं।

दूसरा : सम्राट ने मुंहतोड़ जवाब दिया।

तीसरा : हो सकता है यह भी चाणक्य की कोई नीति हो।

चौथा : राक्षस को जब इस बात का पता चलेगा तो उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ?

पहला : यह बात किसी से छिपी नहीं रहेगी।

दूसरा : उसके गुप्तचर चारों ओर हैं।

चौथा : राज्य भर में यह बात आग की तरह फैलेगी।

पांचवां दृश्य

स्थान : मलयकेतु के राजभवन के सामने ।

समय : प्रातःकाल

[दो सैनिक जीवसिद्धि को पकड़े आते हैं।]

मलयकेतु : कौन है ?

प० सैनिक : देव, बिना आज्ञा-पत्र के नगर से बाहर जाते हुए यह इस पत्र के साथ पकड़ा गया ।

मलयकेतु : कौन हो तुम ?

जीवसिद्धि : आमात्य राक्षस का सेवक हूं ।

मलयकेतु : यह पत्र क्या है ? इस पर तो राक्षस की मोहर लगी हुई है । (पढ़ता है) 'हमारे विपक्ष का निराकरण करके सच्चे मनुष्य ने सच्चाई दिखाई । पर अब तुम हमारे पहले के रखे हुए हितकारी चरों को भी जो जो देने को कहा था, देकर प्रसन्न करना । क्योंकि यह लोग प्रसन्न होंगे तो अपना आश्रय छूट जाने पर भी सब भांति अपने उपकारी की सेवा करेंगे । दूसरा वर्ग वह है जिसमें से कोई तो शत्रु का कोष और हाथी चाहते हैं और कोई राज्य । उन्हें भी प्रसन्न करना ही पड़ेगा । हमको सत्यवादी ने जो तीन अलंकार भेजे थे, वह यथासमय मिले । हमने पत्र के साथ कुछ भेजा है उसे ले लेना और शेष मौखिक रूप से पत्रवाहक से सुन लेना । (रुककर) बड़ी गोलमोल भाषा में है । इसका कोई अर्थ तुम्हारी समझ में आया ?

प० सैनिक : कुछ नहीं ।

दू० सैनिक : कुछ सिर-पैर ही नहीं है । क्यों बे यह पत्र किसका लिखा है ?

मलयकेतु : सही-सही बता ।

जीवसिद्धि : आर्य मैं नहीं जानता ।

प० सैनिक : धूर्त, पत्रवाहक है और पता नहीं ?

मलयकेतु : इसे ले जाकर तब तक पीटो, जब तक पत्र का रहस्य बताना स्वीकार न कर ले ।

[सैनिक उसे अलग ले जाकर पीटना शुरू करते हैं।]

जीवसिद्धि : सुनिए महाराज ! मुझको आमात्य राक्षस ने यह पत्र और यह आभूषण देकर चंद्रगुप्त के पास भेजा था ।

[दोनों सैनिक अलग से]

प० सैनिक : अरे हमें क्या पता इसके पास आभूषण भी हैं ।

दू० सैनिक : हमारे हाथ से गया ।

मलयकेतु : मौखिक क्या कहने को कहा था ?

जीवसिद्धि : आमात्य राक्षस ने मुझे यह कहने को कहा था

कि मेरे मित्र कुलूत देश के राजा चित्रवर्मा, मलयाधिपति सिंहनाद, कश्मीरेश्वर पुष्कराक्ष, सिंधु महाराज, पारसीक पालक मेघाक्ष···इन पांच राजाओं से आपकी पूर्व संधि तो हो चुकी है, उसके अनुसार इनमें से प्रथम तीन तो मलयकेतु का राज्य चाहते हैं और शेष दो कोष और हाथी।

मलयकेतु : (सहसा) ऐसा विश्वासघात ! ···जाओ राक्षस को लेकर आओ।

[पहला सैनिक जाता है। मलयकेतु चिंता और क्रोध से विचलित है।]

जीवसिद्धि : (अलग, दर्शकों से) स्मरण रहे, आमात्य राक्षस को मलयकेतु ने जो आभूषण अपनी ओर से पहनने के लिए भेजे थे। वह उन आभूषणों से अधिक सुन्दर नहीं थे जिन्हें राक्षस ने शकटदास को कहकर मोल लिये थे। और यह भी स्मरण रहे कि मोल लिये गये आभूषण वही थे जिन्हें पर्वतक की मृत देह से उतारकर चंद्रगुप्त ने उसके श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणों को दान में दिये थे और चाणक्य की आज्ञा से ब्राह्मणों ने उन आभूषणों को राक्षस के हाथ बेच दिया था। राक्षस उन मोल लिये गये आभूषणों को ही पहना करता था और मलयकेतु के आभूषण उसकी पेटी में बन्द पड़े

रहते थे। एक दिन अवसर पाकर मैंने राक्षस को इतना प्रसन्न किया कि उसने मलयकेतु के वे आभूषण मुझे इनाम में दे डाले। ये वही आभूषण हैं जिसके लिए इस पत्र में लिखा है··· 'पत्र के साथ कुछ भेजा है, उसे ले लेना'···।

[सैनिक के साथ राक्षस आता है।]

मलयकेतु : क्यों आमात्य, क्या यह सब सत्य है ?

राक्षस : यह सब शत्रु चाणक्य का षड्यन्त्र है।

मलयकेतु : मेरे ये आभूषण शत्रु के हाथ कैसे लगे ?

राक्षस : पता नहीं यह रहस्य क्या है ?

मलयकेतु : यह मुहर किसकी है ?

राक्षस : यह छल है। यह बनावटी है।

मलयकेतु : क्यों जीवसिद्धि, यह पत्र किसने लिखा ?

जीवसिद्धि : शकटदास ने।

राक्षस : हे ईश्वर ! शकटदास ऐसा मित्र कभी ऐसा करेगा, कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा।

मलयकेतु : शकटदास की लिखावट के नमूने मेरे पास हैं। कई पत्र हैं उसके मेरे पास। (जाकर ले आता है) लीजिए यह पत्र शकटदास का ही लिखा हुआ है, मिला लीजिए अक्षरों को।

राक्षस : (मिलाकर) देव जो न कर डाले।

मलयकेतु : पत्र में आपने तीन आभूषण भेजे थे, वे मिले, का क्या अर्थ है ? और उनमें से एक आभूषण आपने

पहन रखा है। यह आभूषण मेरे दिवंगत पिता पर्वतक का है। यह कहां मिला ?

राक्षस : जौहरी से मोल लिया था।

मलयकेतु : झूठे ! विश्वासघाती ! तू ही है मेरे पिता का हत्यारा !

राक्षस : मैंने उनका वध किया ?

मलयकेतु : हां, तूने, तूने। यह जीवसिद्धि तेरा ही तो मित्र है। इसी ने रहस्य-भेदन किया।

राक्षस : आह ! तो जीवसिद्धि भी शत्रु का गुप्तचर निकला।

मलयकेतु : जो कुछ तूने किया, उसका भयानक दंड हो सकता है। किन्तु मैं मलयकेतु हूं, विश्वासघाती राक्षस नहीं। तुम जाकर चंद्रगुप्त की ही सेवा करो जिसके लिए तूने अपने आश्रयदाता के साथ विश्वासघात करने में भी संकोच नहीं किया ! जाओ !

[राक्षस चुपचाप चला जाता है।]

छठा दृश्य

स्थान : पाटलीपुत्र का उद्यान

समय : संध्या

[कार्नेलिया के साथ माहालि]

कार्नेलिया : मैं उन्हें चंद्र कहकर पुकारूंगी। तुम मुझे चाहे जो कहना, पर चंद्र बनकर मेरे अंधकार को नाश करने के लिए कुछ भी करना। तुम मेरे हो, यह नहीं कहती, पर मैं तुम्हारी हूं। मुझे देना है, केवल देना।

माहालि : क्या देना है, राजकुमारी ?

कार्नेलिया : जो इस पवित्र भूमि से पाया है।

माहालि : क्या ?

कार्नेलिया : अहंकार ! वही देना है।

माहालि : वही देना है ?

कार्नेलिया : यही है वेदांत का रहस्य···यही है बुद्ध की करुणा!

माहालि : प्रेमदान करुणा है ?

[माहालि वहीं खड़ा रह जाता है। कार्नेलिया कुछ गुनगुनाती हुई दूर चली जाती है। चंद्रगुप्त आकर उसके सामने मूर्तिवत खड़ा रह जाता है।]

कार्नेलिया : तुम !

चंद्रगुप्त : तुम !

[कार्नेलिया उसके चरण-स्पर्श के लिए झुकती है। चंद्रगुप्त उसे बाहों में भर लेता है। माहालि चुपचाप हट जाता है।]

चंद्रगुप्त : तुम्हें कहां-कहां ढूंढ़ता रहा !

कार्नेलिया : तुम मेरे लिये सर्वत्र थे। इस सृष्टि के कण-कण में।

चंद्रगुप्त : तुम्हारे बिना अब मेरा कोई नहीं।

कार्नेलिया : मेरे चंद्र !

चंद्रगुप्त : मेरे स्वार्थ की बात तो दूर, यदि धर्म की बाधा भी हमें सुखी करने में बाधक बने, तो भी मैं उसे छोड़ने में न चूकूंगा।

कार्नेलिया : धर्म मुक्त करता है, बांधता नहीं।

चंद्रगुप्त : गुरु ने कहा था--हम सब कहीं अपने भीतर बंधे हैं, और मुक्ति बाहर ढूंढ़ते हैं।

कार्नेलिया : हम एक-दूसरे की मुक्ति में सहायक हों। घर, समाज, देश, राष्ट्र, मानव संबंधों का यही मूल है।

[अचानक दौड़ता हुआ राक्षस आता है। उसे देखकर जैसे ही चंद्रगुप्त उसकी ओर बढ़ता है, वह अपनी दिशा में भाग निकलता है। दोनों उसके पीछे जाते हैं। कुछ ही क्षणों में भागता हुआ राक्षस फिर आता है। अकेला]

राक्षस : मैं किस मुख से सम्राट चंद्रगुप्त के सामने होऊं ?

नहीं। नहीं। (सहसा) ये कौन हैं ? मेरा मित्र चंदनदास ! लोग इसे फांसी देने आ रहे हैं। यह अन्याय है। मैं इसकी रक्षा करूंगा। यह मेरे लिये प्राण दे सकता है, तो मैं भी अपने मित्र के लिये प्राणों की बाजी लगा दूंगा।

[लोग चंदनदास को फांसी देने की तैयारी में हैं।]

राक्षस : मेरे मित्र को फांसी देने का अधिकार चंद्रगुप्त को नहीं।

[चाणक्य आता है।]

चाणक्य : यह क्या ? यह क्या खेल हो रहा है ? अभी तक फांसी नहीं दी गयी ?

राक्षस : कहां है चंद्रगुप्त ? बुलाओ उसे। मैं यह अन्याय नहीं होने दूंगा।

चाणक्य : मेरी आज्ञा से राजद्रोही को फांसी दी जा रही है।

राक्षस : मित्रता राजद्रोह नहीं है आमात्य चाणक्य ! मेरा नाम राक्षस है। यह मेरा परम मित्र है।

चाणक्य : ओह आप हैं कूटनीति विशारद, मगध के महामात्य राक्षस ! कहिए क्या आज्ञा है ?

राक्षस : मेरे मित्र को फांसी मत दो।

चाणक्य : किन्तु यह तो राज्याज्ञा है। अब इसमें परिवर्तन करना असम्भव है।

राक्षस : कोई उपाय नहीं ?

चाणक्य : केवल एक उपाय है। आप सम्राट चंद्रगुप्त को अपनी सेवायें अर्पित करें।

राक्षस : असम्भव ! मैं अपने स्वामी नंद के हत्यारे का पक्ष कभी नहीं ले सकता।

चाणक्य : आमात्य राक्षस ! आश्चर्य है आप अब भी ऐसी बातें सोचते हैं। मैं नहीं समझ पाता स्वामिभक्ति देशभक्ति से बढ़कर है। आप विचारशील हैं। सोचें। मेरा नंद-वंश के विनाश में कौन-सा स्वार्थ था? नंद ने देश की क्या भलाई की ?

राक्षस : नंद मगध का शासक था।

चाणक्य : केवल मगध देश नहीं है। लिच्छिवि, मल्ल, मालव, सिंधु, पांचाल, पारस, कुलूत, मलय, किरात,कांबोज, वाह्लीक इस देश के अलग-अलग टुकड़े थे। इन सबको मिलाकर अब एक देश हुआ है--आर्यावर्त ! भारतमाता ! हम सब मिलकर इसे प्रणाम करें !

[सिंहरण, माहालि, बंधुल, चंद्रगुप्त, कार्नेलिया सिंधुतरी आदि आते हैं। प्रणाम करते हैं।]

चाणक्य : (परिचय कराता है) यह हैं मालव कुमार सिंहरण, यह हैं लिच्छिवि कुमार माहालि, यह हैं मल्ल-कुमार बंधुल, यह हैं सिंधुकुमारी सिंधुतरी, यह हैं सम्राट चंद्रगुप्त, यह हैं साम्राज्ञी कार्नेलिया।

[दूसरी ओर से मलयकेतु, शकटदास, सुवासिनी, प्रियंवदक, सारंग और नगर के लोग आते हैं।]

चाणक्य : यह सब मेरा परिवेश है। इसी के भीतर से मैंने जाना मैं क्या हूं। इसी ने मुझसे रचना की। सब मेरे शिष्य हैं। सारे शिष्य मेरे गुरु हैं। जीवन के गहरे जल में डूब-डूबकर इसे पाने के लिए एक से अनेक जन्म लेने पड़े---विष्णुगुप्त, कौटिल्य, चाणक्य, वात्स्यायन, द्रुमिल···।

[चाणक्य बढ़कर राक्षस के चरणों में झुकता है। राक्षस उसे बाहों में भर लेता है।]

चाणक्य : (अपना शस्त्र देता हुआ) यह शस्त्र ग्रहण करें और देश-हित के लिए अपना कल्याण करें।

[राक्षस उसे अपने माथे लगाकर चंद्रगुप्त के सामने नतसिर होता है। चंद्रगुप्त उसे अंक से लगा लेता है।]

चाणक्य : अगर मेरे कोमल पैरों में वह कुश न गड़ा होता, तो मैं इतना कठोर न होता। अगर नंद की श्राद्ध-शाला में मेरा वह घोर अपमान न हुआ होता, तो मैं कौटिल्य न होता। चंद्रगुप्त को शूद्र मुरा दासी का पुत्र कहकर इसे घायल न किया गया होता, तो यहां इतनी हिंसा, कुचक्र, विश्वासघात न हुआ होता। स्थूल देह में जो कुछ कर्म-भोग किया जाता है, सबका संस्कार सूक्ष्म देह में संचित

रहता है। इसे भोगकर ही समाप्त करना पड़ता है। भोग अर्थात् देखना।

[चाणक्य जाने लगता है। चंद्रगुप्त सामने आ रास्ता रोकता है।]

चंद्रगुप्त : गुरुदेव !

चाणक्य : भोगो !

चंद्रगुप्त : गुरुदेव !

चाणक्य : गुरु होना देखना है। जिसमें जितनी चोट है, जितना गहन अहंकार है, उसी के लिए यह राजनीति है। वही भोग राजसिंहासन है।

[चाणक्य का चुपचाप चले जाना। सब देखते रह जाते हैं। वाद्य-यंत्र बजते हैं। सब प्रसन्नचित्त, आमात्य अभिनंदन, चंद्रगुप्त-कार्नेलिया के विवाह की मंगल-यात्रा करते हैं।]

प्रियंवदक : (अलग दर्शकों से) जब फल पूरी तरह से पक जाता है तो वृक्ष के बंधन से स्वतः मुक्त हो जाता है।

सारंग : (दूसरी ओर) जब तक फल पूरी तरह से पक नहीं जाता, वृक्ष से अपने आप अलग नहीं हो पाता।

दोनों : गुरु ब्रह्मा···गुरु विष्णु···गुरु पूर्ण परमेश्वरः।

[पर्दा]